

# समस्य



अक्टूबर-दिसंबर, 2020 ♦ नई दिल्ली

मेरे दादा कहा करते थे कि  
ज़िन्दगी में कभी कभार तुम्हें  
किसी डॉक्टर, वकील, पुलिसवाले  
या किसी उपदेशक की ज़रूरत पड़ती है, पर  
एक किसान की ज़रूरत  
तुम्हें हर रोज़ तीन बरत पड़ेगी।



# नाहि तो जन्म नसाई

कोविड-19 का कहर ना केवल अभी जारी है बल्कि इसने कुछ देशों में और भी विकराल रूप लेना शुरू कर दिया है। इस महामारी की वजह से वैश्विक अर्थव्यवस्था पूरी तरह चरमरा गई है। दुनिया को इससे पहले भी ऐसी महामारियों का सामना करना पड़ा है और असंख्य लोग इनके शिकार हुए हैं। मगर यह भी सच है कि इन महामारियों से मरने वालों की संख्या उन लोगों से कम है जो इस बीच भुखमरी और फाकाकशी से हलाक हुए। कोविड अब तक लाखों लोगों को अपना निवाला बना चुका है और अभी कितने लोग इसका निशाना और बनेंगे इसका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। मगर इस महामारी के दौर में एक सकारात्मक पहलू ये सामने आया है कि भारत जैसे मुल्क में जहां आज भी कुल जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा गरीबी रेखा के नीचे या उसके आस-पास रहता है, भुखमरी या फाकाकशी की नौबत नहीं आई और लॉक डाउन के परिणाम-स्वरूप महीनों तक आर्थिक गतिविधियों के पूर्णतया ठप्प होने के बावजूद किसी के भूख से मरने की कोई दुखद सूचना सुनने में नहीं आई और इसका कारण देश की सार्वजनिक वितरण प्रणाली है। पूरे देश में फैली हुई राशन की लाखों दुकानों ने इस महामारी के दौरान सिर्फ निर्धन और बहुत निर्धन लोगों को ही नहीं मध्यम वर्ग के लोगों को भी जिस तरह से राहत पहुंचाई है वो किसी से ढकी छुपी नहीं है और इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता कि इस सार्वजनिक वितरण प्रणाली का गरीबी के उन्मूलन और कुपोषण जैसी समस्याओं से निपटने में हमेशा से अहम रोल रहा है। मगर अब मौजूदा कृषि बिल के नतीजे में इस पद्धति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है और इसके विलुप्त होने की सूरत में भारत जैसे देश में जहां गरीबी की रेखा के नीचे और उसके आस-पास रहने वालों की संख्या कम नहीं हो रही है, यह संकट कितना भयानक रूप ले सकता है वह हर कल्पना से परे है।

कृषि सुधारों की बात अपनी जगह, ये सुधार जरूरी हैं और होने भी चाहिए लेकिन यह एक निरंतर प्रक्रिया है, लेकिन कोई वैकल्पिक प्रणाली विकसित किए बिना असल हितधारकों अर्थात् किसानों से सलाह और मशविरा किए बगैर मनमाने तरीके से एक जमी जमाई व्यवस्था को तहस-नहस करने के पीछे अगर कोई तर्क नहीं है तो सरकार की मंशा पर सवाल उठना लाजमी है। आज जिन आशंकाओं के साथ किसानों का आंदोलन जारी है अगर वो सच साबित हुई तो हमारा देश एक बड़े भयानक संकट की लपेट में आ सकता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि कृषि को केवल नफा और नुकसान की नजर से देखते हुए सरकार अब छोटे और बहुत छोटे किसानों को अपनी आर्थिक व्यवस्था के लिए बोझ समझने लगी है और उन्हें हमेशा के लिए खत्म करने और उन्हें अपनी जमीनें औने-पौने बेचने और उसके बाद मेहनत मजदूरी करके या चाय-पकौड़े बेचकर अपना जीवन व्यतीत करने का रास्ता तो नहीं दिखा रही है और क्या हम एक वेलफेयर स्टेट का सपना त्याग कर पूंजीवाद के एक निर्मम, बेहिस और निरंकुश अमरीकी मॉडल को अपनाने की तरफ तो नहीं बढ़ रहे हैं।

सामरसेट माम ने 1938 में भारत यात्रा से लौटकर एक पुस्तक लिखी—‘एक लेखक की नोटबुक’। उसमें वे लिखते हैं जब मैं भारत से विदा हो रहा था तो लोगों ने मुझसे पूछा कि भारत के किस दृश्य ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया? तब माम ने कहा न तो मैं ताजमहल से प्रभावित हुआ और न बनारस के घाटों से, त्रावणमोर के पर्वत या मदुरा के मंदिर भी मुझे प्रभावित नहीं कर सके। मेरे मन में रह-रह के उस किसान का चित्र उमरता है जो ठंड में कांपता हुआ और गरमी में झुलसती टोपहर में खेतों में श्रम करता है। भारत के इस दृश्य ने मुझे हिला दिया है।

## 2 • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2020



## डॉ. सुरजीत पातर

लेखक व कवि

### ये मेला है

(किसान संघर्ष को समर्पित कविता)

है जहाँ तक नज़र जाती  
और जहाँ तक नहीं जाती  
इसमें लोक शामिल हैं  
इसमें लोक और सुर-लोक और त्रिलोक शामिल हैं  
ये मेला है

इसमें धरती शामिल, पेड़, पानी, पवन शामिल हैं  
इसमें हमारी हंसी, आँसू और हमारे गान शामिल हैं  
और तुम्हें कुछ पता ही नहीं इसमें कौन शामिल हैं  
इसमें पुरखों का दमकता इतिहास शामिल है  
इसमें लोक-मन का रचा मिथहास शामिल है  
इसमें धैर्य हमारा, सब्र, हमारी आस शामिल है  
इसमें शब्द, चित्त, धुन और अरदास शामिल है  
और तुम्हें कुछ पता ही नहीं  
इसमें वर्तमान, अतीत संग भविष्य शामिल है  
इसमें हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन और सिक्ख शामिल हैं  
बहुत कुछ दिख रहा और कितना अदृष्ट शामिल है  
ये मेला है

ये है एक आंदोलन भी, संघर्ष भी पर जश्न भी तो है  
इसमें रोष है हमारा, दर्द हमारा, टशन भी तो है  
जो पूछेगा कभी इतिहास तुमसे, प्रश्न भी तो है  
और तुम्हें कुछ पता ही नहीं इसमें कौन शामिल हैं  
नहीं ये भीड़ नहीं कोई, ये रूहदारों की संगत है  
ये चलते वाक्य के अंदर अर्थ हैं, शब्दों की पंगत है

ये शोभा-यात्रा से अलग है यात्रा कोई  
गुरुओं के दीक्षा पर चल रहा है काफिला कोई  
ये मैं को छोड़ हम और हमलोग की ओर जा रहा कोई  
इसमें मुद्दतों के मिथे हुए सबक शामिल हैं  
इसमें सूफ़ियों फकरों के चौदह तबक़ शामिल हैं  
तुम्हें मैं बात सुनाऊँ एक, बड़ी भोली और मनमोहनी  
हमें कहने लगी कल दिल्ली की बेटी सोहनी  
आप जब लौट गए यहां से, बड़ी बेरौनक़ी होनी  
ट्रैफिक तो बहुत होगी पर संगत नहीं होगी  
यह लंगर भख रही और बाँटती पंगत नहीं होगी  
घरों को दौड़ते लोगों में यह रंगत नहीं होगी  
हम फिर क्या करेंगे  
तो हमारे नैन नम हो गए  
ये कैसा नेह नवेला है  
ये मेला है

तुम लौटो घरों को, राजी खुशी, है ये दुआ मेरी  
तुम जीतो ये बाजी सच की, है ये दुआ मेरी  
तुम लौटो तो धरती के लिए नयी तक्रदीर होके अब  
नाए एहसास, सच्ची सोच और तदबीर होके अब  
मोहब्बत सादगी अपनत्व की तासीर होके अब  
ये इच्छां माँ और पुत्र पूरन के पुनर्मिलन की बेला है  
ये मेला है

है जहाँ तक नज़र जाती  
और जहाँ तक नहीं जाती  
इसमें लोक शामिल हैं  
इसमें लोक और सुर-लोक और त्रिलोक शामिल हैं  
ये मेला है

इसमें धरती शामिल, पेड़, पानी, पवन शामिल हैं  
इसमें हमारी हंसी, आँसू और हमारे गान शामिल हैं  
और तुम्हें कुछ पता ही नहीं इसमें कौन शामिल हैं  
ये मेला है

अनुवाद : प्रो. चमन लाल

## किसानों ने दिखाया विराट रूप और जगाई बड़ी उम्मीद भी

■ जस्टिस ( रिटायर्ड ) मार्कण्डेय काटजू

वर्तमान में चल रहा किसान आंदोलन जाति और सांप्रदायिक दीवारों को पार कर गया है, और इसलिए इसका ऐतिहासिक महत्व है।



**भगवान** श्री कृष्ण की तरह भारतीय किसानों ने अपना विशाल और पराक्रमी रूप प्रदर्शित किया है। कुरुक्षेत्र में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपने महाकाय रूप के दर्शन दिए थे (गीता का ग्यारहवाँ अध्याय देखें)। इसी प्रकार, भारतीय किसान अपना विशाल और पराक्रमी रूप प्रदर्शित कर रहे हैं। जैसा कि एक महान एशियाई नेता ने कहा था 'जब करोड़ों किसान आंधी या तूफान की तरह उठेंगे, तो यह इतनी शक्तिशाली और तेज ताकत होगी कि पृथ्वी पर कोई भी शक्ति इसे दबा नहीं पाएगी।'

अधिकांश जगहों पर धुवीकरण करने वाली ताकतों को देखकर मुझे भारत की स्थिति पर निराशा हो रही थी, लेकिन इस किसान आंदोलन ने जाति और धार्मिक रेखाओं को पार कर अधिसंख्यक लोगों को एकजुट करके, मेरी विलुप्त होती उम्मीद को पुनर्जीवित किया है। अब मुझे विश्वास है कि भारत अपने एकता के अभाव की मुख्य बाधा को पार कर लेगा, एक महान ऐतिहासिक संघर्ष होगा जो हमें पिछड़ा और गरीब बना रही ताकतों के खिलाफ एकजुट करेगा, और हम एक दिन एक शक्तिशाली औद्योगिक विशाल देश के रूप में उभरेंगे, जिसमें

हमारे लोग उच्च जीवन स्तर और सभ्य जीवन का आनंद ले पाएंगे।

### भारतीय किसान दीर्घायु हों

वर्तमान में भारत में आज दो विपरीत ताकतें काम कर रही हैं। एक वो जो लोगों को धार्मिक (या जाति) के आधार पर विभाजित, उनको ध्रुवीकृत कर रही हैं और दूसरी जो लोगों को एकजुट कर रही हैं। इसे समझने के लिए, पहले यह समझना जरूरी है कि भारत अभी भी एक अविकसित देश है, जिसमें जातिवाद और सांप्रदायिकता जैसी सामंती ताकतें प्रभावशाली हैं। धर्मनिरपेक्षता औद्योगिक समाज की एक विशेषता है, लेकिन भारत अभी भी अर्ध सामंती है। हालांकि भारतीय संविधान भारत को एक धर्मनिरपेक्ष देश घोषित करता है, लेकिन जमीनी हकीकत बहुत अलग है। सच्चाई यह है कि अधिकांश हिंदू और मुसलमान हृदय से सांप्रदायिक हैं।

जब कांग्रेस जैसी धर्मनिरपेक्ष पार्टियां सत्ता में थीं, सांप्रदायिकता मौजूद होने के बावजूद कुछ हद तक सीमा में थी, इसलिए नहीं कि इन दलों को मुसलमानों के लिए कोई वास्तविक सहानुभूति थी, लेकिन क्योंकि वे मुस्लिम वोट बैंक चाहते थे। इसलिए तब तक सांप्रदायिकता काफी हद तक अव्यक्त थी, केवल सांप्रदायिक दंगों आदि में छिटपुट रूप में ही दिखाई देती थी परंतु 2014 के बाद केंद्र में सत्ता परिवर्तन के पश्चात सांप्रदायिकता खुली, उग्र और निरंतर हो गई है, और भारतीय समाज धार्मिक रूप से बड़े पैमाने पर ध्रुवीकृत हो गया है।

चूंकि भारत की अधिसंख्य आबादी हिंदुओं की है (मुस्लिम केवल 15-16 प्रतिशत हैं), हिंदुत्ववादी शक्तियों को इस ध्रुवीकरण से लाभ हुआ है, और इससे उनकी भविष्य में अधिकांश हिंदू बहुल राज्यों में चुनाव जीतने की संभावना है। यह भारतीय लोगों को धार्मिक आधार पर स्पष्ट रूप से विभाजित कर रहा है। हालांकि, भारत में एक ऐसी ताकत भी है जो लोगों को एकजुट कर रही है, और इसका एक ठोस उदाहरण चल रहे किसान आंदोलन में देखा जा सकता है जिसमें किसान धार्मिक और जातिगत रेखाओं को पार कर एक जुट हो कर आंदोलन कर रहे हैं।

भारत में व्यापक गरीबी, रिकॉर्ड और बढ़ती बेरोजगारी, बाल कुपोषण का भयावह स्तर (भारत में हर दूसरा बच्चा कुपोषित है, जैसा कि ग्लोबल हंगर इंडेक्स द्वारा बताया गया है), आम आदमी के लिए उचित स्वास्थ्य सुविधा का लगभग कुल-अभाव, खाद्य पदार्थों, ईंधन की आसमान छूती कीमत,

किसान संकट (जिसके कारण 3,00,000 से अधिक लोगों ने आत्महत्या की है), व्यापक भ्रष्टाचार, आदि है। यह संकट धर्म और जाति के परे सभी लोगों के लिए सामान्य है, इसलिए इनका समाधान एक एकजुट जनशक्ति ही कर सकती है जो धर्म और जाति की बाधाएं तोड़ सके, भारत में चल रहे किसान आंदोलन में इस जनशक्ति के आरम्भ की झलक दिखाई दे रही है।

यह प्रस्तुत किया जाता है कि यद्यपि भारत में विभाजनकारी ताकतें (यानी जाति और धर्म) कुछ समय तक प्रभावी हो सकती हैं, परन्तु लंबे समय में एकजुट करने वाली शक्तियां विभाजनकारी ताकतों पर विजयी होंगी। ऐसा इसलिए है क्योंकि एक न एक दिन लोगों को एहसास जरूर होगा कि गरीबी, बेरोजगारी, मूल्य वृद्धि आदि की भारत में व्यापक समस्याएं सभी के लिए आम हैं। अयोध्या में राम मंदिर का निर्माण या गौ रक्षा, लव जिहाद आदि केवल नौटंकी हैं, और इससे निश्चित रूप से बेरोजगारी, मूल्य वृद्धि, स्वास्थ्य सेवा की कमी आदि समस्याओं का समाधान नहीं होगा। केवल लोगों के एकीकृत होने और बड़े पैमाने पर एकजुट संघर्ष से ही एक महान ऐतिहासिक परिवर्तन संभव है जिससे भारत एक अविकसित देश से अति औद्योगिक आधुनिक देश में परिवर्तित होगा, जो भारतीय लोगों को उच्च स्तर और सभ्य जीवन देगा। ऐसा होना निश्चित है, लेकिन इसमें समय लगेगा।

भारतीय लोग अब धीरे-धीरे यह महसूस कर रहे हैं कि अगर वे साथ हो कर जाति और धार्मिक रेखाओं को पार कर एक महान शक्तिशाली एकजुट संघर्ष शुरू करते हैं तब ही वे इन बड़ी समस्याओं से बाहर निकलने की उम्मीद कर सकते हैं। वर्तमान में चल रहा किसान आंदोलन जाति और सांप्रदायिक दीवारों को पार कर गया है, और इसलिए इसका ऐतिहासिक महत्व है। इस आंदोलन को कुछ निहित स्वार्थी लोगों द्वारा खालिस्तानी, पाकिस्तान प्रेरित आदि के रूप में चित्रित करने का प्रयास बुरी तरह विफल रहा। किसान आंदोलन के नतीजे क्या होंगे, इसका अनुमान फिलहाल नहीं लगाया जा सकता, लेकिन इसने जो हासिल किया है वह है भारतीय लोगों को एकजुट करना। गरीबी और अन्य सामाजिक बुराइयों से भारतीय लोगों की मुक्ति का दिन अब क्षितिज पर देखा जा सकता है, हालांकि इसे प्राप्त करने के लिए एक सयुक्त संघर्ष की लंबी अवधि की आवश्यकता होगी।

साभार : जनसत्ता

## देश को भुखमरी के रास्ते पर ले जाएंगे नए कृषि कानून

■ इस्लाम हुसैन

क्या नए कृषि कानून केवल किसानों के लिए अहितकर हैं? शेष जनता का या कम से कम देश की आधी जनसंख्या का इससे कोई लेना देना नहीं है? यह सोचना, मानना और कहना पूरी तरह गलत है। खाद्यान्न की निजी खरीद, उसका निजी स्टॉक रखना और सबसे महत्वपूर्ण आवश्यक वस्तु अधिनियम का खत्म होना देश की बहुसंख्य जनता के भविष्य को असुरक्षित करने का सबसे खतरनाक षड्यंत्र है।

देश में अभी भी बड़ी संख्या में भूखी जनता के लिए पेट भरना एक बड़ी समस्या है, (जिसे सुथरी भाषा और शब्दावली में हंगर इंडेक्स के एक उतार चढ़ाव से प्रदर्शित किया जाता है) देश में गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाली और गरीबी की रेखा के आस पास रहने वाली करीब आधी जनसंख्या अभी भी खाद्यान्न सुरक्षा की दृष्टि से असुरक्षित है। अंत्योदय और गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों की संख्या क्रमशः 2.42 करोड़ और 6.52 करोड़ है। अर्थात् 40-50 करोड़ की जनसंख्या इससे जुड़ी है। इसमें बड़ी संख्या में छूटे हुए परिवार व उनकी जनसंख्या व मध्यम वर्ग सम्मिलित नहीं है, जिन्हें भी राज्य सहायतित अनाज का वितरण होता है।

ऐसे में खाद्यान्न की बिक्री स्टॉक और परिवहन को पूरी तरह निजी क्षेत्र के हाथों छोड़ना देश के साथ और देश की जनता के साथ एक धोखा ही कहा जाएगा।

खाद्यान्न के बढ़ते उत्पादन के बावजूद देश में खाद्यान्न असुरक्षा की इसी जमीनी हकीकत के कारण ही पिछली सरकार ने अपने अन्तिम दिनों में राष्ट्रीय खाद्यान्न सुरक्षा कानून (एनएफएसए 2013) बनाया था, जिसमें 75 प्रतिशत ग्रामीण आबादी और 50 प्रतिशत शहरी आबादी को खाद्यान्न सुरक्षा के अन्तर्गत लाकर उन्हें खाद्यान्न सुरक्षा का भरोसा दिलाया गया था।

बात पुरानी नहीं अभी लॉकडाउन के समय की है जब 'अच्छे अच्छे' परिवार आटा चावल के लिए चिन्तित हो गए थे, बहुत से लोग/परिवार जो कंट्रोल या कोटे के राशन को हेय दृष्टि से देखते थे सरकारी कंट्रोल के राशन की लाइन में लग कर राशन लेते देखे गए

थे। इससे यही पता चलता है कि देश में भले ही लाखों टन (इस समय 800 लाख टन से अधिक) अनाज गोदामों और स्टॉक में मौजूद हो, तब भी उसकी आपूर्ति हर जगह अबाध रूप से बिना सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस, उचित मूल्य की सरकारी राशन की दुकान) के सम्भव नहीं है।

लॉकडाउन में राशन को लेकर इतना हाहाकार मचा कि राज्य सरकारों को अतिरिक्त राशन (दाल सहित) सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस, उचित मूल्य की दुकान, सरकारी राशन की दुकान) के माध्यम से जारी करना पड़ा, लाखों लोग जो राशन कार्ड भूल चुके थे राशनकार्ड लेकर सरकारी राशन की दुकानों से राशन लेने के लिए लाइन में खड़े थे। जिन लाखों लोगों के पास राशन कार्ड नहीं था उन्हें नए राशन कार्ड जारी किए गए, कई स्थानों पर आधार कार्ड और वोटर आईडी के पर राशन वितरित किया गया।

लॉकडाउन के शुरुआत के अप्रैल और मई महीनों में राशन को लेकर देशभर में जो पैनिक था, वह यह समझने के लिए पर्याप्त है कि देश में भले ही खाद्यान्न का उत्पादन जरूरत से ज्यादा हो जाए उसका समान और समय से वितरण बहुत ही आवश्यक है। और उसे किसी निजी व्यवस्था के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। और राशन की सर्वसुलभ आपूर्ति, सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस, उचित मूल्य की सरकारी राशन की दुकान) के माध्यम के बिना संभव नहीं है।

याद करें पिछली सदी में बंगाल के अकाल के समय देश में अनाज होने के बाद भी लाखों लोग भूख से मारे गए थे क्योंकि तब कोई सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस, सरकारी राशन की दुकान) नहीं थी और देश पूरा निजी स्टॉकिस्टों के रहमों करम पर था।

ईश्वर न करे लॉकडाउन जैसा या और कोई खाद्यान्न संकट न आए, यदि आया तो निजी स्टॉकिस्टों के पास रखा गल्ला कैसे भूखे लोगों तक पहुंचेगा? क्योंकि तब न भारतीय खाद्य निगम की सरकारी खरीद होगी न उसका अपना स्टॉक होगा, तब निजी

व्यापारियों का स्टॉक होगा और अडानी के साइलो गोदामों से निकला हुआ खाद्यान्न मुंह मांगे दामों पर मिलेगा, आज की हालत यह है कि शहरों के बड़े शोरूम और माल में 20 रुपये किलो वाले गेहूं का आटा 50 रुपये किलो तक बिक रहा है, और कारपोरेट में काम करने वाले टाईबाज मजदूर बड़े फख्र से खरीद रहे हैं, लेकिन देश का आम आदमी यह गुलामी बर्दाश्त नहीं कर सकेगा ना उसकी ऐसी सामर्थ्य है।

नए कृषि कानूनों में खाद्यान्न की खरीद को खुला छोड़ दिया गया है, कृषि मंडियों की उपयोगिता को समाप्त कर दिया गया है, और खाद्यान्न के स्टॉक पर सीमाबन्दी समाप्त करके किसानों से अधिक आम उपभोक्ता को खतरे में डाल दिया गया है। तब भारतीय खाद्य निगम जो बाजार में खाद्यान्न के मूल्यों को आम आदमी की पहुंच में बनाए रखने के लिए बाजार की आवश्यकता के अनुसार खाद्यान्न पहले से खरीदकर समय से उसकी आपूर्ति करता रहता है, तब वह नहीं रहेगा। (आज भले ही उसका अस्तित्व है लेकिन जब बड़े स्टॉकिस्टों के पास उससे अधिक स्टॉक होगा या बिल्कुल भी नहीं होगा) तो कैसे खाद्यान्न की आपूर्ति और मूल्यों पर नियंत्रण हो सकेगा? यह विचारणीय है।

पिछले दशकों में अकसर जब सूखे और अतिवृष्टि से रबी या खरीफ की फसल पर जरा भी नकारात्मक प्रभाव पड़ता था, तो सरकार फौरन भारतीय खाद्य निगम से अतिरिक्त खाद्यान्न रिलीज करवा कर खाद्यान्न की आपूर्ति से मूल्यों का संतुलन बना लेती थी। आज देश के पास ( भारतीय खाद्य निगम के स्टॉक में) आवश्यकता से अधिक अनाज है, तो इस बात की कौन गारंटी दे सकता है कि यह स्थिति हमेशा बनी रहेगी, या अकाल, अतिवृष्टि और लाकडाउन जैसी आपातकालीन स्थिति कभी भी नहीं आएगी?

फिर भारत की खाद्य सुरक्षा, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, मिड डे मील, खाद्यान्न आधारित अन्य सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों, समाज कल्याण विभाग के छात्रवासों को खाद्यान्न आपूर्ति से जुड़े सवाल भी चिन्ताजनक हैं। जिसके लिए सरकार भारतीय खाद्य निगम को सहायता/सब्सिडी देने का प्रावधान है। लेकिन पिछले कुछ समय से सरकार ने भारतीय खाद्य निगम को राज्य सहायता देना बंद कर दिया है, जिससे इन समाज कल्याण के कार्यक्रमों को चलाने के लिए भारतीय खाद्य निगम ने विभिन्न वित्तीय संस्थानों से कर्ज लेना आरंभ कर दिया है। (यह कर्ज करीब एक लाख करोड़ रुपये से बढ़कर ढाई तीन लाख करोड़ हो गया है) इस कर्ज के लगातार बढ़ने यह खतरा बढ़ गया है कि कहीं भारतीय खाद्य निगम ही समाप्त/बंद न हो जाए, या इसे भी सरकार औने पौने दाम

पर कारपोरेट को सौंप दे, तब न खाद्यान्न खरीद होगी ना सार्वजनिक वितरण प्रणाली रहेगी और ना ही मिड डे मील का झंझट रहेगा। इसे कहते हैं, 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी'।

मौजूदा सरकार की मंशा देखकर लगता तो यही है कि यह सरकार अन्तिम रूप से सभी समाज कल्याण और निर्धनों की सहायतार्थ चलाए जाने वाले समाज कल्याण कार्यक्रमों से हाथ खींचकर पूरे सामाजिक आर्थिक ढांचे को बर्बाद करने पर तुली है।

नए कृषि कानूनों में भारतीय खाद्य निगम की भूमिका को कम करने का यह प्रावधान देश की बहुसंख्यक जनता के लिए बहुत महंगा पड़ने वाला है। क्योंकि भारतीय खाद्य निगम की स्थापना जिन उद्देश्यों के लिए की गई थी उसमें, देश के नागरिकों के लिए खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करना। न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) पर खाद्यान्नों की कार्यकुशल खरीद, भंडारण एवं वितरण करना। खाद्यान्नों के बफर स्टॉक के रखरखाव सहित समुचित नीतिगत साधनों के माध्यम से खाद्यान्नों और चीनी की उपलब्धता सुनिश्चित करना।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से, विशेष रूप से समाज के कमजोर और वंचित वर्गों को वाजिब मूल्यों पर खाद्यान्न उपलब्ध करना। देशभर में राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 का कार्यान्वयन करना। गेहूं, धान/चावल और मोटे अनाज की कार्यकुशल खरीद के माध्यम से मूल्य समर्थन प्रचालन करना। लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मजबूत बनाना। चीनी उद्योग का विकास/संवर्धन करना। वेयरहाऊसिंग क्षेत्र का विकास करना, तथा सार्वजनिक सेवा प्रणाली में सुधार करना सम्मिलित हैं।

नए कृषि कानूनों से भारतीय खाद्य निगम की इस भूमिका पर सबसे बड़ा प्रहार होने जा रहा है। सरकार किसानों को तो न्यूनतम मूल्य की गारंटी देने का आश्वासन दे रही है, लेकिन भारतीय खाद्य निगम के कार्यों को बनाए रखने तथा सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों को बनाए रखने के बारे में अभी तक पूरी तरह मौन है। इसलिए नए कृषि कानूनों पर आम जनता और सामाजिक संगठनों को किसानों से पहले आपत्ति होनी चाहिए।

होना तो यह चाहिए था कि सरकार द्वारा जल्दबाजी में लाए गए कृषि कानूनों पर आम जनता, जन प्रतिनिधि मीडिया और सामाजिक संगठन, किसानों से पहले सरकार से जवाब लेते, कि नए कृषि कानूनों को लाकर वह किस तरह देश की खाद्यान्न वितरण प्रणाली लाना चाहती है। और वह कैसे देश की खाद्यान्न सुरक्षा बनाए रखेगी? जिसके लिए राष्ट्रीय खाद्यान्न सुरक्षा कानून 2013 बनाया गया है।

साभार : नैनीताल समाचार

## ११३ साल बाद फिर पगड़ी संभाल जट्टा

■ जगमोहन शर्मा एवं जितेंद्र बूरा

कृषि कानूनों के खिलाफ 24 सितंबर से शुरू किसान आंदोलन को 90 दिन से ऊपर हो चले हैं। फिलहाल सरकार और किसानों के बीच कानूनों में संशोधन को लेकर कोई सहमति नहीं बन पाई है। 19वीं सदी से लेकर 20वीं सदी के 100 साल के किसान संघर्षों को देखा जाए तो कभी भी शासन इतनी आसानी से किसानों के आगे नहीं झुका। चाहे वो 1907 की पंजाब की सबसे लंबी चलने वाली पगड़ी संभाल जट्टा लहर हो या फिर मुजाहरा लहर।

आंदोलन कितना ताकतवर होता जा रहा है इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि देश की सीमाओं से लगे गांवों के किसान 20 से 22 घंटे की यात्रा के बाद कुंडली बॉर्डर पहुंचे और धरने में शामिल हुए। लोक कलाकार आंदोलनकारियों का मनोरंजन कर रहे हैं। समर्थन का आलम यह है कि हरियाणा में धर्मशालाओं ने किसानों के लिए अपने दरवाजे खोल दिए हैं।

**दिल्ली मोर्चे, पगड़ी संभाल जट्टा और मुजाहरा लहर में बहुत सी समानताएं**

दिल्ली के मोर्चे में इन दोनों लहरों का मिला जुला स्वरूप देखने को मिल रहा है। दिल्ली मोर्चे, पगड़ी संभाल जट्टा और मुजाहरा लहर में बहुत सी समानताएं हैं। इन दो लहरों की सफलता पर ही दिल्ली का मोर्चा काम कर रहा है। पहला बड़ा फार्मूला पगड़ी संभाल जट्टा लहर से लिया गया है। पगड़ी संभाल जट्टा लहर की ताकत तब साहित्यकार, लेखक, शायर थे। इसी तरह दिल्ली मोर्चा में भी आमजन में जोश भरने का काम गायक कर रहे हैं।

सब कलाकार खुद लहर का हिस्सा बने हैं। दूसरा स्वरूप मुजाहरा लहर से मिलता है। मुजाहरा लहर ही पहली ऐसी लहर थी जिसमें किसान महिलाओं ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। दिल्ली किसान मोर्चा में भी महिलाओं ने घर-परिवार और खेतों की कमान संभाल रखी है ताकि किसानों को खेती की चिंता न हो और वो डटे रहें।

इन पर आंदोलन हुए

### 1. आबादकारी बिल 1906

मांग : जमीनों को साहूकारों से मुक्त कराना

9 महीने लंबा चला यह किसान आंदोलन

ब्रिटिश शासन काल में आबादकारी नामक बिल लाया गया

था। इसका उद्देश्य किसानों की जमीनों को हड़पकर बड़े साहूकारों के हाथ में देना था। इस बिल के अनुसार कोई भी किसान अपनी जमीन से पेड़ तक नहीं काट सकता था। अगर किसान ऐसा करता पाया जाता तो नोटिस देकर 24 घंटे में उसकी जमीन का पट्टा कैंसिल करने का अधिकार शासन के पास था।

दूसरी सबसे खतरनाक बात यह थी कि जमीन किसान के बड़े बेटे के नाम पर ही चढ़ सकती थी। अगर उसकी औलाद नहीं होती और मुखिया किसान मर जाता तो जमीन अंग्रेजी शासन या रियासत को चली जानी थी। इस बिल को लाकर अंग्रेजों ने बारी दोआब नहर से सिंचित होने वाली जमीनों का लगान दोगुना कर दिया था।

बिल के खिलाफ 1907 में किसानों ने आंदोलन शुरू कर दिया। इसकी अगुवाई सरदार अजीत सिंह ने की। इस लहर को हुंकारा 22 मार्च 1907 तो तब मिला जब लायलपुर में किसानों के जलसे में लाला बांके दयाल ने पगड़ी संभाल जट्टा पगड़ी संभाल ओए...गीत गाया। किसानों के दबाव के आगे शासन को झुकना पड़ा और नवंबर 1907 को कानून वापस ले लिए गए।

### 2. मुजाहरा लहर 1948

मांग : जमीन का मालिकाना हक

8 रिसायतों ने जमीनी हक दिलवाया था

मुजाहरा लहर को पैपसु लहर के नाम से भी जाना जाता है। 15 जुलाई 1948 को चली इस लहर का उद्देश्य साहूकारों की जमीनों पर पीढ़ियों से खेती कर रहे मुजाहरों को उनका मालिकाना हक दिलाना था। इस लहर में नाभा, पटियाला, जींद, मालेरकोटला, फरीदकोट, कपूरथला, नालागढ़ और कलसिया रियासत शामिल थी। सामंत लोग मुजाहरों को हक तो देना चाहते थे पर कुछ शर्तों पर।

इसके लिए उन्होंने इन्हें दो भागों में विभाजित कर दिया। 30 साल से ज्यादा समय से जमीन जोत रहे मुजाहरों को मालिकाना हक इस शर्त पर दिया जा रहा था कि वह उपज का एक हिस्सा असल मालिक को देंगे। इसे लेकर मुजाहरे कोर्ट में गए लेकिन फैसला उनके हक में नहीं हुआ। लंबे संघर्ष के बाद पैपसु राज्य ने तीन कानून पास करके मुजाहरों को मालिक बना दिया।

साभार : bhaskar.com

## ४ • समरथ

अक्टूबर-दिसंबर, 2020



## महाराष्ट्र की चारी किसान हड़ताल जो करीब छह सालों तक चली थी

■ नामदेव अंजाना

दिल्ली में कड़ाके की ठंड पड़ रही है। तापमान 10 डिग्री सेल्सियस से भी नीचे जा चुका है लेकिन पंजाब और हरियाणा से आए किसान इसकी परवाह किए बिना दिल्ली और हरियाणा के बॉर्डर पर जमे हुए हैं। किसान छह महीनों तक विरोध-प्रदर्शन करने की तैयारी के साथ आए हैं। तीन महीने से ऊपर तो उनके यहाँ पर विरोध-प्रदर्शन करते हुए हो गए और वो अब तक बिल्कुल भी पीछे नहीं हटते दिख रहे हैं। केंद्र सरकार जब तक तीन नए कृषि कानूनों को वापस नहीं ले लेती तब तक वो अपना विरोध जारी रखेंगे। यह उनका साफ तौर पर कहना है। कई लोग किसानों के छह महीने तक आंदोलन जारी रखने को लेकर उत्सुकता से भरे हुए हैं।

### चारी किसान हड़ताल

इसी तरह से कुछ लोगों को इस बात पर यकीन करना

मुश्किल हो सकता है कि महाराष्ट्र में छह साल तक किसानों का एक आंदोलन चला था। छह सालों से इसमें शामिल किसी किसान ने खेती नहीं की। इसकी वजह से भुखमरी की नौबत तक आ चुकी थी लेकिन किसान अपने रुख पर कायम रहे। ये सुनकर आपको ताज्जुब हो सकता है लेकिन यह सच है।

महाराष्ट्र में ये किसान आंदोलन एक इतिहास बन चुका है। इसे 'चारी किसान हड़ताल' कहते हैं। महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में खोटी व्यवस्था के खिलाफ किसानों का ये आंदोलन चला था।

### महाराष्ट्र में बटाईदार कानून

ये हड़ताल पहली बार रायगड जिले के अलीबाग के नजदीक चारी गांव में हुई थी। इसकी वजह से महाराष्ट्र में कृषि क्षेत्र में कई अहम बदलाव हुए थे।



बाबा साहब भीम राव आंबेडकर ने इस आंदोलन का समर्थन किया था। उनकी इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी के बीज भी आप इस आंदोलन में देख सकते हैं। किसानों और मजदूरों के नेता नारायण नागु पाटिल ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया था और अंग्रेजों को घुटने पर आने पर मजबूर कर दिया था। इस आंदोलन की वजह से महाराष्ट्र में बटाईदार कानून लागू हुआ।

हम किसानों के इस सबसे ज्यादा वक्त से चलने वाली हड़ताल के बारे में विस्तार से जानेंगे लेकिन उससे पहले हम संक्षिप्त में खोटी व्यवस्था को समझने की भी कोशिश करेंगे।

### खोटी व्यवस्था क्या है ?

खोट लोग बड़े जमींदार थे। पेशवा के वक्त से इन्हें मान्यता मिली हुई थी। इनका मुख्य काम सरकार की ओर से किसानों से राजस्व वसूलना था और उसे सरकार तक पहुँचाना था। जहाँ खोट लोग रहते थे उन गांवों को खोटी गांव कहते थे।

कृषीवल अखबार के संपादक एसएम देशमुख ने चारी किसानों के हड़ताल पर गहराई से अध्ययन किया है। वो कहते हैं, 'खोट लोग खुद को सरकार समझते थे और गरीब किसानों को लूटते थे। ये किसान पूरे साल कड़ी मेहनत करते थे लेकिन आखिर में सारे अनाज खोट के पास चले जाते थे। सिर्फ यही नहीं बल्कि खोट अपने निजी कामों के लिए भी उनका इस्तेमाल करते थे।' इन किसान मजदूरों को कोल कहते थे। ये दूसरे की जमीन पर काम करते थे।

देशमुख बताते हैं, 'खोट लोग किसानों को बरगला कर रखते थे क्योंकि वे लोग पढ़े-लिखे नहीं थे। खोट लोगों ने काबुलायत जैसी व्यवस्था शुरू की थी। इस व्यवस्था के अंदर 11 महीने के लिए खेत ठेके पर दिए जाते थे। खोट लोग एक एकड़ जमीन के बदले एक खांडी चावल की मांग करते थे। अगर कोई किसान नहीं दे पाता था तो उससे अगले साल इसका डेढ़ गुना लिया जाता था। इसलिए जी तोड़ मेहनत करके भी किसानों के हाथ कुछ नहीं आता था।'

'बटाईदारी वाली खेती में अगर किसानों ने सब्जियाँ या फिर आम, नारियल या कटहल का पेड़ लगाया तो उस पेड़ के फलों पर खोट का अधिकार होता था। यह एक अलिखित समझौता था। हालांकि किराए पर दिए गए जमीन पर पूरे समुदाय का हक होता था लेकिन खोट इस पर अपना मालिकाना हक जताते थे। खोट किसानों और बटाईदारों को जबरदस्ती अपने निजी काम करने पर मजबूर करते थे। अपने खेतों में भी उनसे काम लेते थे।'

देशमुख आगे बताते हैं, 'अगर कोई बटाईदार पर्याप्त रूप से राजस्व नहीं दे पाता था तो उसके पूरे परिवार को गुलाम समझ लिया

जाता था। कोंकण के क्षेत्र में यह अमानवीय व्यवस्था लागू थी।'

19वीं सदी के अंत में खोटी व्यवस्था को कई जगहों पर चुनौती मिलनी शुरू हुई। रत्नागिरी के खेड तहसील और रायगढ़ के पेन तहसील में इस तरह की कोशिशें शुरू हुई थीं लेकिन इन कोशिशों को नाकाम कर दिया गया। 1921 से 1923 के बीच रायगढ़ में खोट लोगों के खिलाफ अलग-अलग स्तरों पर आंदोलन हुए। लेकिन वो सभी आंदोलन कुचल दिए गए।

नारायण नागु पाटिल इन सभी घटनाक्रम को अपने सामने होते हुए देख रहे थे। उन्होंने खोटी व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठाने का फैसला लिया। इसके लिए उन्होंने सबसे पहले अपने आस-पास के कई गांवों का दौरा किया।

### तब शुरू हुई छह साल लंबी किसानों की हड़ताल

'कोंकण क्षेत्र किसान संघ' 1927 में खोट व्यवस्था के खिलाफ बना था। भाई अनंत चित्रे इस संघ के सचिव थे। इस संघ ने खोटी व्यवस्था के खिलाफ रत्नागिरी और रायगढ़ जिले में कई रैलियाँ निकालीं। रैलियों को नाकाम करने के कई प्रयास हुए। कई बार नारायण नागु पाटिल और भाई अनंत चित्रे को रैली को संबोधित करने पर पाबंदी लगा दी गई। लेकिन किसानों का समर्थन बढ़ता रहा। इन हड़तालों को लेकर पेन तहसील में 25 दिसंबर 1930 को एक अहम सम्मेलन आयोजित किया गया। इसे कोलाबा जिला सम्मेलन कहा गया। उस वक्त राजगढ़ जिला ही कोलाबा हुआ करता था। इस सम्मेलन की अगुवाई नारायण नागु पाटिल और भाई अनंत चित्रे ने की थी। इस सम्मेलन में पारित हुए प्रस्ताव आगे चल कर आंदोलन के आधार बने। इन प्रस्तावों में एक 28 सूत्री मांग भी थी जिसमें खोटी व्यवस्था को खत्म करने, उपजाने वाले को ही खेत का मालिकाना हक देने और ब्याज में कटौती जैसी मांगें शामिल थीं। इसके अलावा काबुलायत की शर्तों में भी बदलाव की मांग की गई थी। इस सम्मेलन के बाद नारायण नागु पाटिल और भाई अनंत चित्रे ने आक्रामक रुख अपनाते हुए सभी रैलियों को संबोधित करना शुरू किया और किसानों को जागरूक किया।

तब के कोबाला जिले में खेड, ताला, मनगांव, रोहा, और पेन जैसी जगहों पर हजारों किसानों ने रैलियाँ निकालीं। इसका नतीजा यह निकला कि खोटी व्यवस्था के खिलाफ 1933 में एक ऐतिहासिक आंदोलन हुआ।

### ऐतिहासिक आंदोलन की घोषणा

1931 और 1933 के बीच नारायण नागु पाटिल और भाई अनंत चित्रे की अगुवाई में हुए कई आंदोलनों को पाबंदियाँ झेलनी पड़ी थीं। इसने आंदोलन को धीमा कर दिया था। लेकिन 1933 में

पाबंदियों के हटने के बाद 25 गांवों की एक रैली चारी गांव के पास से शुरू हुई। इसकी वास्तविक तिथि 27 अक्टूबर 1933 थी।

अलीबाग-वडखाल सड़क पर चारी गांव स्थित है। इस आंदोलन की घोषणा इसी गांव में हुई। नारायण नागु पाटिल चारी में इस रैली के आयोजक थे। इसमें ये घोषणा की गई कि किसानों को उपज में उनका वाजिब हक नहीं मिल रहा है। वे इसके लिए हड़ताल पर जाएंगे और आज से हड़ताल शुरू होता है। यह फैसला लिया गया कि वे खेतों में फसल नहीं उपजाएंगे।

खोट लोगों ने जब किसानों पर हड़ताल खत्म करने का दबाव बनाया तो इसका डटकर किसानों ने सफलतापूर्वक मुकाबला किया। लेकिन भूख से वो कैसे लड़ते जब खेती-बाड़ी ही नहीं हो रही थी तब खाने के लिए अनाज कहाँ से आता ?

### भूखे रहने के बावजूद डटे रहे

खेती नहीं करने को लेकर ये हड़ताल 1933 से लेकर 1939 तक कुल छह सालों तक चली। चारी के अलावा 25 और गांव इसमें शामिल थे। इन्हीं गांवों को इसका खामियाजा भुगतना पड़ रहा था। हड़ताल के दौरान किसानों को बहुत बुरे हालात का सामना करना पड़ा। उन्हें जंगल से लकड़ी काट कर गुजारा करना पड़ा। हालांकि वो अपनी मांग को लेकर डटे रहे और हड़ताल जारी रही।

### कृषिवल अखबार की शुरुआत

कोलाबा समाचार जैसे अखबारों ने हड़ताल को लेकर सवाल खड़े किए। एसएम देशमुख बताते हैं, 'कोलाबा समाचार में संपादकीय छपा कि जमींदारों और बंटाईदारों में मतभेद पैदा करने की कोशिश की जा रही है। अखबार ने हड़ताल के पीछे के मकसद पर संदेह जाहिर किया।'

जब कोलाबा समाचार जैसे स्थापित अखबार हड़ताल को लेकर सकारात्मक रुख नहीं रख रहे थे तब नारायण नागु पाटिल ने लोगों की मदद से अपना अखबार शुरू किया। 5 जुलाई 1937 को कृषिवल नाम से इस अखबार की शुरुआत हुई। इससे हड़ताल को लेकर लोगों तक अपनी बात पहुँचाने में मदद मिली। आज की तारीख में यह अखबार शेतकारी कामगार पार्टी का मुखपत्र है।

### आंबेडकर का साथ

एसएम देशमुख ने इस पर विस्तार से लिखा कि कैसे आंबेडकर ने इस आंदोलन का समर्थन किया था। वो बताते हैं, 'जब किसानों की ये हड़ताल चल रही थी तब किसानों का एक और सम्मेलन हुआ था। आंबेडकर इस सम्मेलन की अध्यक्षता करने को बुलाया गया था। भाई अनंत चित्रे खुद उन्हें बुलाने मुंबई गए थे।'

इस सम्मेलन में खोटशाही खत्म करो, सावकरशाही

(साहूकारशाही) खत्म करो जैसे नारे लगाए गए थे। इसमें बाबा साहब भीम राव आंबेडकर ने फार्मर्स लेबर पार्टी की स्थापना की घोषणा की। शेतकारी कामगार पार्टी की जड़ें भी चारी मंस शुरू हुए आंदोलन से निकली थीं। शंकर राव ने इसकी स्थापना की थी।

सावकारों (साहूकार) के खिलाफ भाषण हुए। कोलाबा समाचार जो शुरू से हड़ताल का विरोध कर रहा था, उसने साहूकारों के खिलाफ 'साहूकारों को खत्म करो' शीर्षक से लेख लिखा। लेकिन आंबेडकर के दौरे के बाद इस आंदोलन में और तेजी आ गई। 25 अगस्त 1935 को जिला कलेक्टर ने बटाईदार और जमींदारों के बीच बैठक करवाई। लेकिन यह बैठक बेनतीजा रही और हड़ताल जारी रही। कुछ सालों के बाद आंबेडकर ने इंडिपेंडेंट पार्टी के 14 विधायकों के समर्थन से मुंबई के विधानसभा में खोटी व्यवस्था के खिलाफ प्रस्ताव रखा। सरकार ने तब सुनी और मोरारजी देसाई को हड़ताल पर बैठे किसानों से मिलने को भेजा।

### तब के राजस्व मंत्री मोरारजी देसाई का दौरा

बाला साहब खेर उस वक्त मुंबई क्षेत्र के मुख्यमंत्री थे। उन्होंने मोरारजी देसाई से चारी जाकर स्थिति का जायजा लेने को कहा। उस वक्त नारायण नागु पाटिल ने मोरारजी देसाई की ओर से दिए गए आश्वासन पर यकीन किया और उन्हें मान लिया।

अपनी आत्मकथा 'कथा एका संघर्षशाची' में नारायण नागु पाटिल ने लिखा है, 'मोरारजी भाई की मध्यस्थता मेरे उम्मीदों से कहीं अधिक निष्पक्ष और संतुलित थी। किसानों की कुछ मांगें मान ली गईं। किसानों की जीत हुई।'

तब हड़ताल की वजह से पैदा हुए तनावपूर्ण माहौल में कमी आने लगी। किसानों को भी हड़ताल से परेशानी तो हो ही रही थी। उन्हें खाने को पर्याप्त खाना नहीं मिल पा रहा था और भी कई तरह की परेशानियाँ वो झेल रहे थे। हालांकि इसके बावजूद हड़ताल छह सालों तक जारी रही। 1939 में सरकार ने बटाईदारों को सुरक्षा देने की घोषणा की और 27 अक्टूबर 1933 से शुरू हुई हड़ताल इस तरह से खत्म हो पाई।

### बटाईदार कानून का अस्तित्व में आना

हड़ताल की वजह से महाराष्ट्र में बटाईदारों को आधिकारिक तौर पर 1939 में संरक्षण प्राप्त हुआ। जोतने वाले की ज़मीन होगी के सिद्धांत को मान्यता मिली। बटाईदारों को ज़मीन का मालिकाना हक दिया गया। पहली बार बटाईदारों का नाम सात-बारा दस्तावेज में दर्ज किया गया। 1948 में बटाईदार कानून पारित हुआ और बटाईदारों को अधिक अधिकार हासिल हुए।

साभार : [bbc.co.uk/hindi](http://bbc.co.uk/hindi)

## 35 साल पुराना इतिहास दोहराता हरियाणा का एक गांव

■ सत सिंह

साल 1985, इंदिरा गांधी की हत्या को एक साल गुजर चुका था, हत्या के बाद दंगे और सिखों के खिलाफ हुई हिंसा के जख्म ताजा थे। हरियाणा में रोहतक के गाँव खरावड़ के रेलवे स्टेशन पर एक सुबह पंजाब मेल पैसेंजर ट्रेन खराब हो गई। ट्रेन में बड़ी संख्या में सरदार, महिलाओं और बच्चे बैठे थे। सबको चिंता थी कि सिखों के खिलाफ खराब माहौल के बीच हिंदू बहुल इलाके में इतने सरदार क्या सुरक्षित हैं ?

अभी किसान आंदोलन के दौरान दिल्ली जाने वाले कई किसान इस गाँव में आराम करने के लिए रुकते हैं। यहां रहने वाले रिटायर्ड कैप्टन जयवीर सिंह मलिक चाय, पानी, खाना, फल और दवाइयों के साथ उन्हें 35 साल पुराना एक किस्सा भी सुनाते हैं—सरदारों से भरी ट्रेन के खराब हो जाने की कहानी। वो बताते हैं, 'जब पंजाब के किसान हमें धन्यवाद देते हैं तो हम उन्हें बदले में पंजाब से जुड़ा वो किस्सा सुनते हैं जो 35 साल पुराना है।

'उन दिनों फ़ौज से छुट्टी लेकर मैं गाँव आया हुआ था। हमें पता लगा कि पंजाब मेल ट्रेन जिसमें बहुत से सरदार, महिलाएँ और बच्चे बैठे हैं, काफ़ी देर से खड़ी है। ट्रेन कब रवाना होगी ये भी नहीं पता। हम गाँव के लोग वहाँ इकट्ठा हुए और सभी यात्रियों को अपने हाथों से चाय, पानी, बिस्कुट, रोटी-सब्जी बना कर खिलाई।'

### गाँव के लोगों के देख घबरा गए यात्री

सतबीर सिंह, जो उस गाँव में किसानी करते हैं, उन्होंने बताया कि जब वो ट्रेन के पास गए तो यात्री इतने सारे लोगों को एक साथ देखकर घबरा गए। वो कहते हैं, 'बाद में कुछ सरदारों से हमने बात की, हमने उन्हें विश्वास दिलाया कि गाँव के लोग सेवा भाव से वहाँ आए हैं और वो ये सुनिश्चित करना चाहते हैं कि जब तक ट्रेन रवाना ना हो तब तक वो सुरक्षित महसूस करें और उन्हें खाने पीने की कमी न हो।'

'उसी ट्रेन में तब के अकाली दल के सांसद बलवंत सिंह रामवालिया भी थे जिन्होंने हमारे गाँव का नाम संसद में गौरव से लिया और एक चिट्ठी भी लिखी थी।'

बीबीसी से बात करते हुए, पूर्व केंद्रीय मंत्री और पूर्व सांसद बलवंत सिंह रामवालिया ने कहा कि वो उस दिन को कभी भूल नहीं

पाते। उन्होंने कहा, 'इंदिरा गाँधी की हत्या की वजह से सिखों के खिलाफ नफरत का माहौल था और जब खरावड़ में ट्रेन खराब हुई तो सब घबराए हुए थे। सुबह का वक्त था। गाँव वाले जल्दी उठ जाते हैं, उनको स्टेशन से पता चला कि एक ट्रेन जिसमें महिलाएँ, बच्चे और बहुत सारे सरदार हैं, खड़ी है और वो लोग असहज महसूस कर रहे हैं।' गाँव वाले अपने घर से बाल्टियों में दूध, चाय की केतली, बिस्कुट, रोटियाँ, गुड़, अचार सब ले आए और हम लोगों को भरपेट खिलाया और हमारी सुरक्षा की भी जिम्मेदारी ली।'

रामवालिया कहते हैं कि वहाँ से जाते वक्त उन्हें लग रहा था जैसे वो अपने परिवार को पीछे छोड़कर जा रहे हैं। 'हमारे लिए वो रब का रूप बनकर आए। ऐसे वक्त में धर्मनिरपेक्षता के साथ मानवता के लिए खड़ा होना और अपने घरों में ले जाकर सेवा करना, हम सब के लिए वो यादगार पल है।'

उन्होंने कहा कि वापस लौटने के बाद, उन्होंने उस समय हरियाणा के सबसे बड़े नेता चौधरी देवी लाल को गाँव की मानवता और भलाई के बारे में बताते हुए चिट्ठी लिखी थी और संसद में गाँव के लोगों की तारीफ़ में बहुत कुछ कहा था। 'वही गाँव आज 35 साल बाद भी किसान आंदोलन में उसी सेवा भावना के साथ किसानों की सेवा में जुटा है। मैं उनको प्रणाम करता हूँ।'

### किसानों की सेवा में जुटा है गाँव

दिल्ली से करीब साठ किलोमीटर दूर रोहतक-दिल्ली हाइवे पर बसा ये गाँव जाट बहुल है। पंजाब से सिरसा, फतेहाबाद या जौड़-कैथल के रास्ते दिल्ली जाने वाले किसान बड़ी संख्या में यहाँ रुकते हैं। गाँव के ऋषि चमन मंदिर में उनके रहने-खाने की व्यवस्था भी की गई है।

खरावड़ गाँव के लंगर में खाना खा रहे मानसा के किसान लाभ सिंह बताते हैं, 'यहाँ के लोग रोड पर खड़े होकर किसानों को रोक-रोक कर खाना खिला रहे हैं और ज़रूरत का सामान दे रहे हैं। पूरी-सब्जी, चाय, पानी, गुड़, अचार, हलवा, दवाईयाँ, गर्म पानी, और हाथ सेकने के लिए लकड़ियाँ जला रखी है। यहाँ कोई धर्म, जाति, लिंग का भेदभाव नहीं है, बस मानवता के नाते सेवा में जुटे हैं खरावड़ के लोग।'

साभार : [bbc.co.uk/hindi](http://bbc.co.uk/hindi)

---

# लोकतंत्र की संरचना में ही असहमति गुंथी होती है

■ अशोक वाजपेयी

---

## असहमति की व्याप्ति

डेढ़ेक बरस पहले अहमदाबाद विश्वविद्यालय की अध्यापिका प्रतिष्ठा पण्ड्या ने फोन कर बताया कि उन्होंने मेरे सम्पादन में आयी 'इण्डिया डिसेण्ट्स' संचयिता देखी है और मैं असहमति पर उनके छात्रों और सहकर्मियों से संवाद करने उनके द्वारा संचालित एक बौद्धिक सीरीज 'नालन्दा' में भाग लूँ। जाना कई कारणों से नहीं हो पाया और फिर कोविड महामारी आ गयी। सो अब यह संवाद ऑनलाइन हुआ। छात्रों और अध्यापकों ने पूरी तैयारी के साथ चर्चा में भाग लिया। मेरे लिए सुखद अचरज की बात यह थी कि सभी ने उस संचयन की भूमिका 'असहमति की बहुलता' ध्यान से पढ़ रखी थी। जो प्रश्न छात्रों ने पूछे वे सभी विचारोत्तेजक थे। उनमें से कई स्नातक स्तर की पढ़ाई कर रहे हैं और उनमें ईमानदार जिज्ञासा और प्रश्नाकुलता है। इसने बहुत आश्चर्य किया। यह प्रभाव पड़ा कि असहमति का भूगोल चुपचाप कम से कम कुछ युवा क्षेत्रों में फैल रहा है।

निरा मतभेद असहमति नहीं कहा जा सकता हालांकि बिना मतभेद के असहमति संभव नहीं है। पर असहमति भेद से आगे जाती है। उसमें किसी व्यापक व्यवस्था या सत्ता से, किसी बुनियादी अर्थ में, उसकी किसी दृष्टि, नीति, कर्म, प्रत्यक्ष या परोक्ष कार्रवाई आदि से मतभेद शामिल होता है। असहमति अपने मूल में नैतिक, प्रभाव और उपस्थिति में सामाजिक और बौद्धिक होती है। कई और शब्द हैं जो असहमति के नजदीकी रिश्तेदार हैं, प्रतिरोध, असहयोग, सिविल नाफरमानी, आपत्ति, प्रश्नांकन, विरोध इनमें से कुछ हैं। असहमति हिंसक भी हो सकती है और इस कारण अन्ततः विफल और पराजित होने के लिए अभिशप्त। उसका अहिंसक रूप ही अधिक प्रभावशाली और टिकाऊ होता है।

लोकतंत्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें न सिर्फ असहमति की जगह, आदर और स्वागत होते हैं बल्कि कई राजनैतिक दलों के अस्तित्व और सक्रियता के रूप में वह उसकी संरचना में ही गुंथी

होती है। असहमति के बिना लोकतंत्र सम्भव और सशक्त नहीं हो सकता। इस समय भारतीय लोकतंत्र खुले रूप में बहुसंख्यकतावाद की चपेट में है और असहमति की प्रायः सभी अभिव्यक्तियों को बाधित और दण्डित करने की प्रवृत्ति का वर्चस्व सा स्थापित हो गया है। ऐसे कानूनों और कार्रवाइयों की प्रचुरता सी है जो रोज असहमति का दमन करने के लिए सक्रिय हैं। स्वयं असहमति के सहारे सत्तारूढ़ शक्तियाँ अब असहमति को दबाने, चुप कराने का लगातार उपक्रम कर रही हैं।

जो प्रश्न पूछे गये उनके उत्तर में यह स्पष्ट किया गया कि भारत में असहमति की कम से कम तीन हजार बरस पुरानी परम्परा रही है। इस परम्परा ने वैदिक काल से लेकर अपने समूचे इतिहास में धर्म, आस्था, दर्शन, ज्ञान आदि में असहमति को जगह और सम्मान दिये हैं। आखिरकार बौद्ध, जैन और सिख धर्म असहमति से ही उपजे धर्म हैं और भारत में ही जन्मे हैं। जो भारत में वाद-विवाद-संवाद को हाशिये पर डालता है, वह लोकतंत्र भर से नहीं भारतीय परम्परा से द्रोह करता है।

हमारे रोजमर्रा, की ज़िन्दगी में इधर राजनीति, धर्म और मीडिया के तिहरे प्रभाव में बेवजह आक्रामकता, नागरिक व्यवहार में सौम्यता और परस्पर आदर के बजाय आहत होने, झगड़ने-लड़ने के मुहावरे बढ़ते जा रहे हैं। एक तरह का नागरिक लयभंग हो रहा है। सार्वजनिक जीवन तो अब हिंसा-घृणा-हत्या-बलात्कार आदि की अभद्र-अश्लील और हिंसक भाषा से आक्रान्त हो रहा है। झूठों का ऐसा घटाटोप है कि सच दिखना लगभग बन्द हो गया है। राज्य हर दिन अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन कर रहा है और समाज उसका शिकार है। साफ है कि किसी भी तरह की असहमति अस्वीकार्य है। दूसरे शब्दों में, असहमति जोखिम और साहस का कर्म है और उसे व्यक्त करने वाले मुश्किल में पड़ते हैं। वर्तमान राजनीति में धुवीकरण, संवादहीनता, दुर्व्याख्या और हिन्दुत्व आदि पर भी चर्चा हुई जिनके बारे में पहले ही लिखा जा चुका है।

---

# लव जिहाद को लेकर हो रही राजनीति संघी मनुवाद का नया संस्करण है

■ चिटू कुमारी

---

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा लाया गया 'लव जिहाद' कानून और कुछ नहीं मनुस्मृति का ही नया रूप है, जो महिलाओं को समुदाय की संपत्ति मानकर गुलाम बनाता है और संघर्षों से हासिल किए हुए अधिकारों को फिर छीन लेना चाहता है। यह जितना मुस्लिम विरोधी है, उतना ही हिंदू महिलाओं और दलितों का विरोधी भी है।

हाल ही में उत्तर प्रदेश की योगी सरकार द्वारा 'उत्तर प्रदेश विधि विरुद्ध धर्म संपरिवर्तन प्रतिषेध अध्यादेश 2020' को मंजूरी दी गई है। इस अध्यादेश के द्वारा दूसरे धर्म में अपनी मर्जी से प्यार और शादी करने वालों को अपराध के श्रेणी में ला दिया गया। इस नियम के तहत धर्म परिवर्तन करके शादी करने वाले जोड़े को 5-10 वर्ष तक की सजा मिल सकती है। उम्मीद है कि जल्द ही अध्यादेश कानून का रूप ले लेगा।

इसी के साथ कई और राज्य भी जैसे कर्नाटक और मध्य प्रदेश इस बिल को जल्द ही विधानसभा से पास करने के लिए आतुर है।

इस कानून में एक बात जो गौर करने वाली है वो ये है कि इसमें अनुसूचित जाति और जनजाति से आने वाले लोगों, खासकर महिलाओं के लिए प्रेम और अपनी मर्जी से साथी चुनने का रास्ता और भी कठिन होने वाला है।

क्योंकि इन जातियों से आने वाला कोई अगर शादी के समय धर्म परिवर्तन करता है, तो उसके साथी और शादी में मदद करने वाले अन्य लोगों के लिए सजा का प्रावधान और भी कठोर है। इस कानून के तहत महिला के माता, पिता, बहन, भाई या कोई भी रिश्तेदार भी तथाकथित रूप से उसे जबरन धर्म परिवर्तन यानी 'लव जिहाद' से बचाने के लिए प्राथमिकी दर्ज करा सकते हैं।

यहां सवाल यह उठता है की यदि आप महिला को सशक्त बनाना चाहते हैं तो सिर्फ महिला को ही यह अधिकार क्यों नहीं दे देते?

'मिशन शक्ति' (उत्तर प्रदेश में महिलाओं के सुरक्षा के

लिए योगी द्वारा चलाया गया अभियान) तो महिलाओं को सशक्त करने के लिए बना था न? तब फिर एफआईआर दर्ज करने की शक्ति महिला को ही दे देते!

महिला के साथ अगर जबरन धर्म परिवर्तन हो रहा है, तो आखिर महिला खुद ही तो एफआईआर दर्ज कर सकती है। अगर वह अपने मर्जी से ये सब कर रही है, तो वह एफआईआर दर्ज नहीं करेगी।

पर मसला तो यही है कि यह अधिनियम महिला की मर्जी के खिलाफ हथियार ही तो है! महिला के रिश्तेदारों को एफआईआर दर्ज करने का अधिकार देने का मतलब है कि महिला को परिवार और समुदाय की संपत्ति मानना। और महिला अपनी मर्जी से धर्म बदलती है या जीवनसाथी चुनती है, तो इसे संपत्ति की चोरी यानी 'लव जिहाद' मानना।

तभी तो देखा जा रहा है कि यूपी पुलिस ने नए कानून के तहत जितने केस दर्ज किए हैं, अधिकतर में बालिग महिलाएं चीख-चीखकर कह रही हैं कि हमने मर्जी से प्रेम और शादी की है। हिंसा तो महिलाओं की मर्जी पर ही हो रही है इस कानून के तहत।

महिला को समुदाय की संपत्ति मानना, उसे स्वायत्तता के लायक न समझना- आखिर इस संस्कृति की जड़ें कहां हैं? जवाब है मनुस्मृति और ब्राह्मणवादी पितृसत्ता में।

बाबा साहेब आंबेडकर ने भारत के संविधान में महिलाओं के बराबरी और आज़ादी को स्वीकार किया। हिंदू कोड बिल पारित करवाकर हिंदू महिलाओं को मनुस्मृति से कानूनी मुक्ति दिलवाई। पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोग मनु के कानून यानी मनुस्मृति को ही अपना असली संविधान मानते हैं।

नवंबर 30, 1949 में संघ के अंग्रेजी मुखपत्र ऑर्गनाइजर में बाबा साहेब के संविधान के खिलाफ संपादकीय छपा, यह कहते हुए कि 'भारत के नए संविधान के बारे में सबसे बुरी चीज़ यही है कि उसमें भारतीय कुछ भी नहीं है। इस नए संविधान में प्राचीन

भारत की अनोखी उपलब्धि (यानी मनुस्मृति) का कोई जिक्र नहीं है। मनुस्मृति के कानूनों को पूरी दुनिया में स्वतःस्फूर्त स्वीकृति और आज्ञाकारिता प्राप्त हुई है पर हमारे संविधान के पंडितों के लिए यह सब कोई मायने नहीं रखता।' इसे पढ़कर साफ हो जाता है कि 'संविधान के पंडित' कहकर बाबा साहेब पर ही कटाक्ष किया गया है। आखिर यह बाबा साहेब ही तो थे जिन्होंने मनुस्मृति को दलितों और महिलाओं के लिए गुलामी का दस्तावेज बताकर 25 दिसंबर 1927 को सार्वजनिक रूप से जलाया था।

सत्ता में आने के बाद हिंदुत्ववादी शक्तियों संविधान को खत्म करके मनुस्मृति को स्थापित करने की ओर कदम बढ़ा रही हैं। 'लव जिहाद' कानून और कुछ नहीं मनुस्मृति का ही नया संस्करण है, जो महिलाओं को समुदाय की संपत्ति मानकर गुलाम बनाता है और संघर्षों से हासिल किए हुए अधिकारों को फिर छीन लेना चाहता है। यह जितना मुस्लिम विरोधी है, उतना ही हिंदू महिलाओं और दलितों का विरोधी है।

कुमकम संगारी अपने एक लेख में लिखती हैं कि पितृसत्ता एक ऐसा केंद्र बिंदु है जहां नस्लवाद, जातिवाद, फासीवाद और संप्रदायवाद का सहज मिलन होता है। 'लव जिहाद' कानून इस सच का साक्षात् उदाहरण है।

उमा चक्रवर्ती अपनी पुस्तक 'जेंडरिंग कास्ट थ्रू द फेमिनिस्ट लेंस' में इस बात को लिखती हैं कि हिंदू धर्मशास्त्रों में जाति और वर्ण पर आधारित सामाजिक संरचना का विकास किया गया, जिसमें कुछ लोगों को ऊंचा कुछ को नीचा तथा कुछ को पवित्र और कुछ को अपवित्रता की श्रेणी में डाला गया।

इसी ऊंच-नीच की संरचना को बनाए रखने के लिए सजातीय (Endogamy) विवाह का रिवाज शुरू किया और इस तरह से जातिगत भेद को बनाए रखने में उनको सहयोग मिला।

इस प्रकार अरेंज मैरिज एक औजार की तरह था, जिसके द्वारा जातिगत भेद और स्तरीकरण को कायम रखा जा सकता था। एक ही जाति में विवाह को बढ़ावा दिया गया ताकि वंश परंपरा को बनाए रखा जा सके और इस तरह से ऊंची जाति की समाज में ऊंची, मजबूत और प्रभुत्वशाली पहचान भी बनी रहे। और इस तरह से सजातीय विवाह करके महिलाओं से ये उम्मीद कि गई कि वो पवित्रता और अपवित्रता के नियमों को बनाए रखें और अपने वंश परंपरा को आगे बढ़ाएं। इस पूरी कि पूरी व्यवस्था को 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' का नाम दिया गया।

इस तरह कि जातिवादी व्यवस्था और 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता'

ने जाति और वर्ण व्यवस्था के सबसे शीर्ष पर बैठे कुछ लोगों के लाभ के लिए काम किया।

यही कारण है कि 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' ने महिलाओं कि सेक्सुअलिटी (Sexuality) को हमेशा से नियंत्रित करके रखा ताकि उनका शुद्ध ब्लड यानी जाति में उनका ऊंचा स्थान, पवित्रता और वर्चस्व बना रहे। एक तरह से उन्होंने 'जेनेटिक इंजीनियरिंग' करके अपनी तथाकथित शुद्धता का आचरण बनाए रखा।

उमा चक्रवर्ती कहती हैं कि वर्ग, जाति और जेंडर का सवाल आपस में जुड़ा हुआ है। ये तीनों ही आपस में अंतःक्रिया स्थापित करते हैं और एक दूसरे के स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

विवाह संरचना, लैंगिंगता और प्रजनन जाति व्यवस्था के मौलिक आधार हैं। यह मौलिक रूप से असमानता को बनाए रखने के तरीके हैं। विवाह संरचना वर्ग और जाति पर आधारित असमानता को न केवल बढ़ाती है बल्कि उत्पादन व्यवस्था को भी नियंत्रित करती है। यही कारण है कि स्वतंत्र भारत में जब भी बाबा साहेब ने महिलाओं के उत्थान के लिए संविधान में बराबरी का अधिकार देने की बात की, तो बहुत से जातिवादी लोगों ने खुले और छुपे रूप में हमेशा विरोध किया।

बाबा साहेब ने जब हिंदू कोड बिल के द्वारा न केवल दलित महिलाओं को बल्कि पूरे महिला समाज के लिए समाज में बराबरी की बात की तो ब्राह्मणवादी मानसिकता वाले लोगों ने पुरजोर कोशिश की कि लंबे समय से चली आ रही मनुवादी व्यवस्था को कोई ठेस न पहुंचे। बाबा साहेब को अंततः कानून मंत्री के पद से इस्तीफा देना पड़ा।

जिस समय संघ का मुखपत्र कह रहा था कि हिंदू महिलाओं को अधिकार और आजादी देने वाले हिंदू कोड बिल से महिलाओं में 'मानसिक बीमारी' पैदा हो जाएगी (ऑर्गनाइज़र, फरवरी 6, 1950; पाओला बैचेटा, जेंडर इन थे हिंदू नेशन : आरएसएस विमन ऐज इडियोलॉगिज़, 2004) उसी समय भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) की 'महिला आत्मरक्षा समितियां' हिंदू कोड बिल के समर्थन में हस्ताक्षर अभियान चलाने सड़कों पर निकलीं और संघ के मनुवादी ताकतों का मुकाबला करती हुईं जन प्रदर्शनों का भी आयोजन किया। (रेणु चक्रवर्ती, 'भारतीय महिला आंदोलन में कम्युनिस्टों की भूमिका', पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1983)

वेलेरियन रोड्रिग्स अपनी पुस्तक 'दलित बहुजन डिस्कोर्स' में इस बात को दर्शाते हैं कि स्वाभिमान या आत्मसम्मान दलित बहुजन डिस्कोर्स का अभिन्न और केंद्रीय सरोकार रहा है क्योंकि

जाति विभाजित समाज में जाति पर आधारित पदसोपान व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर खड़े व्यक्ति के आत्मसम्मान को सबसे ज्यादा चोट पहुंचाई गई है।

वास्तव में उनको उन सब स्रोतों से भी अलग रखा गया, जो उनके आत्मसम्मान के विकास में आवश्यक होते। अतः ये ब्राह्मणवादी व्यवस्था व्यक्ति के आत्मसम्मान की सबसे बड़ा दुश्मन है क्योंकि इस व्यवस्था में ही निहित है कि कुछ लोगों को हीन और कुछ को श्रेष्ठ होने का भाव पैदा होगा।

वे आगे लिखते हैं कि केवल ब्राह्मण ही ब्राह्मणवाद को नहीं उत्पन्न करते बल्कि वे सब लोग जो ब्राह्मणवादी नक्शेकदम पर चलते हैं, उसे जीते हैं, चाहे वो अछूत ही क्यों न हो ब्राह्मणवाद की सोच को बढ़ावा देते हैं।

महिलाओं के आज़ादी के प्रति दकियानूसी रवैया सभी जातियों में दिखलाई पड़ता है। इसी का फायदा उठाकर संघ परिवार दलितों को भी बहलाने की कोशिश करती है कि आपकी बेटियों को मुस्लिम लड़कों से प्यार हो जाने यानी 'लव जिहाद' से खतरा है।

4 अप्रैल 2014 को लोकसभा चुनाव प्रचार के दौरान केंद्रीय गृहमंत्री ने पश्चिमी यूपी के बिजनौर में दलितों को संबोधित करते हुए इशारा किया था कि मायावती ने उस समुदाय के लोगों को 19 टिकट दिए हैं 'जो बहन-बेटियों की आबरू पर हाथ डालता है।'

उस समय मायावती ने 19 मुसलमान उम्मीदवार खड़े किए थे, इसलिए शाह साफ-साफ मुसलमानों को ही बलात्कारी बता रहे थे। इस भाषण में शाह 2019 में पश्चिमी यूपी के दंगों के तरफ इशारा कर रहे थे—इन मुस्लिम विरोधी दंगों का बहाना 'लव जिहाद' का हौवा ही था।

विडंबना यह है कि देश भर में दलित लड़कों और पुरुषों को गैर दलित लड़कियों महिलाओं से प्यार करने पर इसी तरह के नफरत और हिंसा का सामना करना पड़ता है। और तथाकथित 'जबरन धर्म परिवर्तन' के खिलाफ बने सभी कानून भी ज़्यादातर दलितों आदिवासियों के खिलाफ ही होते हैं।

बाबा साहेब ने कहा था कि मैं हिंदू धर्म में पैदा हुआ पर हिंदू धर्म में मारूंगा नहीं, और उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाया। हिंदू धर्म और मनुवाद से कुछ हद तक मुक्ति की तलाश में इस्लाम, ईसाई या बौद्ध धर्म अपनाने वाले दलितों आदिवासियों की मर्जी के खिलाफ ब्राह्मणवादी हथियार हैं ये कानून।

उसी तरह 'लव जिहाद' और 'जबरन धर्म परिवर्तन' की

आड़ में यूपी का नया कानून महिलाओं की मर्जी के खिलाफ, अंतरजातीय, अंतरधार्मिक प्रेमी जुगलों की मर्जी के खिलाफ ब्राह्मणवादी हथियार है।

हर वर्ष हरियाणा, बिहार यूपी से लेकर तमिलनाडु तक न जाने कितने दलित पुरुषों की हत्या की जाती है, प्यार करने के 'जुर्म' में। ऐसे में जब यूपी के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ भाषण में लव जिहाद कानून की घोषणा करते हुए कहते हैं कि 'लव जिहाद करने वालों का राम नाम सत्य हो जाएगा,' तो समझ लेना चाहिए कि यह धमकी मुसलमानों के लिए तो है ही, दलितों के लिए भी है और हिंदू महिलाओं के लिए भी।

मनुवादी पितृसत्ता के बर्बर नियमों को तोड़कर प्रेम करने वाले सभी लोगों को जान की धमकी दे रहे हैं योगी और उनका 'लव जिहाद' कानून।

प्यार करने की, जीवन साथी तय करने की आज़ादी, हमारी इंसानियत की पहचान है। इस आज़ादी पर वार करने वाले मनुस्मृति के कानून, हिटलर के नस्लवादी 'न्युरेम्बर्ग कानून,' अमेरिका के 'जिम क्रो कानून' और दक्षिणी अफ्रीका के अपारथाइड कानून (जो अलग-अलग जाति/धर्म/नस्ल/रंग के लोगों में प्रेम संबंध और विवाह पर रोक लगाने के लिए बने थे) पर आज दुनिया थू-थू करती है।

आज ऐसे ही कानूनों को इक्कीसवीं सदी के भारत में लागू करने के प्रयास किए जा रहे हैं। बाबा साहेब ने ठीक ही कहा था की 'हिंदू राज' अगर बना तो भारत के लिए सबसे बड़ा आपदा साबित होगा। हिंदू राज, हिंदुओं के वर्चस्व वाला राज होगा और धार्मिक वर्चस्व के आधार पर बना कोई भी राज हमेशा महिला विरोधी होता है।

भारत में हिंदू वर्चस्व का मतलब होगा मनुवाद का राज—और यह महिलाओं, दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों के खिलाफ तो होगा है, हर नागरिक की आजादी के खिलाफ होगा, तानाशाही राज होगा, जिसमें प्रेम करने और जीवनसाथी तय करने तक की आजादी नहीं होगी!

आज जरूरत है कि महिला और दलित-आदिवासी-बहुजन आंदोलन की सभी धाराएं, संविधान के पक्ष में खड़े सभी नागरिक आंदोलन, वाम लोकतांत्रिक आंदोलन की ताकतें एकजुट होकर 'लव जिहाद' के झूठ पर टूट पड़ें और इसके नाम पर बन रहे कानूनों को सिरे से खारिज करते हुए इन्हें मानने से इनकार करें।

साभार : [thewirehindi.com](http://thewirehindi.com)



---

## तनिष्क के बहाने बशीर चूड़ीवाले की याद

■ अनुराग मोदी

---

जहां टाटा हिंदू बहू और मुस्लिम सास के प्रेम का सामना करने से डर गया, वहीं बशीर चूड़ीवाले अपने शहर की हिंदू बहू-बेटियों के प्रति अपने स्नेह के लिए आज भी आम लोगों की स्मृति में जिंदा हैं।

हाल ही में टाटा के तनिष्क ब्रांड के एक विज्ञापन, जिसमें उन्होंने एक मुस्लिम सास को अपनी हिंदू बहू की गोद भराई की रस्म करते दिखाया था, पर बड़ा बवाल हुआ।

‘लव जिहाद’ फैलाने के आरोप के सामने घुटने टेकते हुए टाटा ने इस विज्ञापन को न सिर्फ वापस ले लिया, बल्कि कुछ शहरों के तनिष्क स्टोर मैनेजर ने इसे लेकर माफीनामा लिखकर अपने-अपने स्टोर के बाहर सार्वजनिक तौर पर चस्पा भी किया।

ऐसा करके उन्होंने शायद अपना कुछ आर्थिक नुकसान होने से बचा लिया होगा, लेकिन उनके इस कदम ने ईंसानियत का बहुत बड़ा नुकसान किया है।

उन्होंने इस विज्ञापन को देकर और फिर डरकर उसे हटाकर ‘लव जिहाद’ के एजेंडा को अपनी ओर से अहमियत और

मान्यता दे दी। साथ ही यह भी संदेश दिया कि देश का सबसे जाना-माना कॉरपोरेट घराना भी एक समूह की धमकी के सामने अपने मूल्यों से समझौता कर लेता है। जबकि अपने इस विज्ञापन पर टिके रहकर वो पूरे देश को हिंदू-मुस्लिम के बीच ईंसानी रिश्तों का एक संदेश से सकते थे।

यह सब देख-सुनकर मुझे बशीर चूड़ीवाला याद आया। अब सवाल यह उठता है कि मुझे वही क्यों याद आया ?

टाटा इस देश के कॉरपोरेट का एक बहुत बड़ा नाम है। तनिष्क ब्रांड नाम से वो अपना ज्वैलरी का व्यापार पूरे भारत में चलाते हैं। वहीं बशीर चूड़ीवाला मेरे गृह कस्बे सिवनी मालवा, जो मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में है, का एक छोटा सा चूड़ी का व्यापार करने वाले व्यक्ति था।

इन दोनों का कहीं से कहीं तक कोई मुकाबला नहीं है; न व्यापार में और न ही पहचान में। जहां तनिष्क के फैसले का असर न सिर्फ पूरे देश बल्कि विदेश में भारत की छवि पर पड़ता है, वहीं बशीर चूड़ीवाला क्या कर रहा है, क्या फैसले ले रहा है, उसका



असर ज्यादा से ज्यादा सिवनी मालवा शहर तक सीमित रहेगा।

लेकिन फिर भी दोनों में एक समानता है। दोनों महिलाओं के श्रृंगार का सामान बेचते हैं और दोनों के अपने-अपने नैतिक मूल्य हैं या थे।

जहां टाटा हिंदू बहू के मुस्लिम सास के प्रेम का सामना करने से डर गया, वहीं बशीर चूड़ीवाला अपने शहर की हिंदू बहुओं और बेटियों के प्रति अपने स्नेह के लिए आज भी लोगों की स्मृति में जिंदा हैं।

मेरे बचपन (आज से 45 साल पहले) में बशीर चूड़ीवाला हमारे मोहल्ले में चूड़ियां बेचने आता था। सब उन्हें मुसलमान चूड़ीवाले के रूप में नहीं बल्कि बशीर चाचा के नाम से जानते थे।

जब मैं थोड़ा बड़ा हो गया तो कई अवसरों पर हमारे घर में बड़े गर्व से यह बात होती थी कि बशीर चाचा सावन पर हमारी बुआ को अपनी बेटी मानकर मुफ्त में चूड़ियां पहनाते थे। और जब शादी के दो साल बाद ही वो विधवा हो गई, तो उन्होंने हमारे मोहल्ले में आकर चूड़ियां बेचना ही बंद कर दिया।

बशीर चूड़ीवाले को चूड़ी बेचना बंद किए और इस दुनिया से गए जमाना हो गया। मगर एक हिंदू बेटी के प्रति उनके इस स्नेह की कहानी आज भी न सिर्फ भी मेरे जेहन में बल्कि मेरी मां के जेहन में ताजा है।

82 साल की मेरी बूढ़ी मां को तनिष्क नहीं मालूम, न ही यह सब विज्ञापन का बवाल, लेकिन इस लेख को लिखने के पहले जब मैंने उन्हें फोन किया और पूछा कि वो कौन-सा चूड़ीवाला था, जो बुआ को मुफ्त चूड़ी पहनाता था, तो उन्होंने बड़े मीठे से कहा कि बशीर चूड़ीवाला!

और साथ ही स्नेह के भाव से से यह भी बताया कि वो सिर्फ बुआ को ही नहीं बल्कि हर साल दिवाली में उन्हें भी चूड़ी पहनाकर जाते थे, जो मुझे नहीं मालूम था।

सिवनी मालवा जैसे कस्बे, जहां पिछले 30 साल से मंदिर की राजनीति के चलते धर्म के नाम पर धुवीकरण चरम पर है, हमारे घर में सब उस राजनीति से प्रभावित हैं, तब भी बशीर चूड़ीवाले का नाम मेरी मां की स्मृति में आज भी उसी स्नेह के रूप में दर्ज है, कि कैसे एक मुसलमान चूड़ीवाला उन्हें अपनी बहू मानकर दिवाली पर याद से चूड़ी पहनाकर जाता था।

असल में जिस पीढ़ी ने बंटवारे और हिंदू-मुस्लिम दंगे देखे, उसने हिंदू-मुस्लिम का इंसानी प्रेम भी देखा है इसलिए यह पीढ़ी तमाम धुवीकरण और राजनीतिक झुकाव के बाद आज भी

अपने जेहन में कहीं न कहीं उन यादों को भी जगह दिए हुए है।

लेकिन नई पीढ़ी, जो अपनी अधिकतर सूचनाएं ऑनलाइन लेती है, जो रात दिन टीवी डिबेट और देश के प्रधानमंत्री से लेकर तमाम बड़े नेताओं के भाषण में हिंदू-मुस्लिम रिश्तों को दो अलग-अलग ध्रुव पर देखती है, जिसके पास मेरी मां या मेरी तरह ऐसे कोई व्यक्तिगत अनुभव नहीं हैं, वो अगर टाटा जैसे ब्रांड को घुटने टेकते देखेगी, तो वो हिंदू-मुस्लिम स्नेह के इंसानियत के रिश्ते को कैसे समझेगी।

अगर आज के समय में कोई मुस्लिम चूड़ीवाला अपने कस्बे की किसी हिंदू बहू को अपनी बहू मानकर दिवाली पर और हिंदू बेटी को अपनी बेटी को सावन पर मुफ्त चूड़ी पहनाए और उसके विधवा होने पर उस गली-मोहल्ले में चूड़ी बेचना ही बंद कर दे, तो उसे क्या कहेंगे?

क्या ऐसा कहेंगे— उस मुस्लिम चूड़ीवाले का हिंदू की बेटी से क्या लेना-देना? या यह कहेंगे— वो एक हिंदू बेटी को अपनी बेटी मानकर सावन पर मुफ्त चूड़ी कैसे दे सकता है? या उसके विधवा होने पर उस गली-मोहल्ले में चूड़ी बेचना कैसे बंद कर सकता है? और एक हिंदू बहू को अपनी बहू मानकर दिवाली पर मुफ्त चूड़ी कैसे दे सकता है? क्या यह भी एक तरह का 'लव जिहाद' है?

असल में इंसानियत के रिश्ते सबसे ऊपर है। जहां एक मुसलमान के लिए किसी हिंदू महिला से बहू या बेटी का रिश्ता उसकी औपचारिकता से नहीं आता है, बल्कि इंसानी भावना से आता है।

काश हम बशीर चूड़ीवाले और मेरी मां के अनुभव और उनकी इंसानी रिश्तों की समझ को वापस ला सकें। बस आज जरूरत हिंदू-मुस्लिम रिश्तों को राजनीतिक लोगों के चश्मे से देखना बंद करने की है। और अपने आसपास इंसानी रिश्तों की गरमाहट को अपने तई महसूस करने की भी।

पुरानी पीढ़ी को वो समय याद करने और उसे नई पीढ़ी को बताने की जरूरत है, जहां कोई नेता आकर उनके और उनके पड़ोसी के बीच के रिश्ते को अपनी सुविधा के अनुसार किसी जुमले से नहीं तौलता था।

मेरा पक्का विश्वास है कि हर शहर में इस तरह के लोगो के पास हिंदू-मुस्लिम के बीच इंसानी रिश्तों के अनेक किस्से होंगे। बस आज जरूरत इन रिश्तों पर जमा धूल हटाने की है।

साभर : <https://thewirehindi.com/>

# बिस्मिल को मारने पहुँची भीड़ के सामने

## जब खड़े हो गए थे अशफ़ाक़

■ किमी कॉलनी

देश की आजादी के लिए शहीद हुए राम प्रसाद बिस्मिल और अशफ़ाक़ुल्लाह खां की शहादत आज भी सबसे ज़ेहन में है। आजादी के इन दीवानों ने हंसते हंसते मौत को गले लगा लिया था। शायराना मिजाज में आजादी हासिल करने का जुनून दोनों में एक जैसा था, शायद यही वजह थी कि जब पहली मुलाकात के बाद दोस्ती की जो शुरुआत हुई वो मरते दम तक भी उसी शिद्दत से जारी रही। दुनिया भले ही एक को हिंदू और दूसरे को मुस्लिम कहती हो लेकिन वो दोनों दो जिस्म एक जान थे।

उनकी दोस्ती के कई किस्से भी मशहूर हैं, लेकिन एक वाकया ऐसा भी है जिसे जानकर कोई भी उनकी दोस्ती पर नाज कर सकता है।

**शायरी से हुई थी पहली मुलाकात**—राम प्रसाद बिस्मिल और अशफ़ाक़ुल्लाह की मुलाकात भी बेहद दिलचस्प वाकये के साथ हुई थी। अशफ़ाक़ के बड़े भाई रियासतउल्लाह बिस्मिल के सहपाठी थे। उनके मुँह से बिस्मिल की लगातार तारीफें सुनने और उनका शायराना अंदाज की जानकारी लगने के बाद से ही अशफ़ाक़ की बिस्मिल से मिलने की चाहत हिलोरे खा रही थी। कई कोशिशों के बाद भी जब बात नहीं बनी तो एक बार अशफ़ाक़ खन्नौत नदी के किनारे सुनसान इलाके में बिस्मिल की बैठक में ही पहुँच गए। इस दौरान बिस्मिल की एक शायरी पर आमीन कहने पर उनकी नजर इस नए लड़के पर पड़ी। उनकी शायरी का अपने शायराना अंदाज में जवाब देने वाले अशफ़ाक़ के साथ बाद में उनकी ऐसी घुटने लगी कि आगे चलकर दोनों की दोस्ती के किस्से भी चर्चा में रहे।

**जब भीड़ के सामने दीवार बने अशफ़ाक़**—राम प्रसाद



अशफ़ाक़उल्ला खां  
ASHFAQULLAH KHAN

राम प्रसाद बिस्मिल  
RAM PRASAD BISMIL

बिस्मिल अशफ़ाक़ुल्लाह को अपना छोटा भाई मानते थे। उसी तरह अशफ़ाक़ भी उन्हें बड़े भाई का ही दर्जा देते थे। आमतौर पर दोनों की मुलाकात आर्यसमाज के मंदिर में होती थी। अशफ़ाक़ के आर्यसमाज मंदिर जाने पर उनके परिवार को आपत्ति थी, हालांकि अशफ़ाक़ अपनी जान से प्यारे भाई से मिलने के लिए वहां जाने से कैसे रुकने वाले थे। ये सिलसिला लंबे वक्त तक चलता रहा।

बताते हैं कि एक बार मुस्लिम समाज से जुड़ दर्जनों लोग आर्यसमाज के मंदिर में रामप्रसाद

बिस्मिल को मारने पहुँच गए थे क्योंकि उन्हें लगता था कि बिस्मिल ने अशफ़ाक़ को बरगलाया है। जब यह घटना हुई उस वक्त अशफ़ाक़ भी वहां मौजूद थे। उन्हें जब इसका पता लगा तो वह मंदिर के मुख्य द्वार पर किसी दीवार की तरह खड़े हो गए। काफी मजबूत कदकाठी के अशफ़ाक़ को देखकर भीड़ बाहर ही ठिठक गई। इस दौरान उन्होंने कहा कि बिस्मिल को हाथ लगाने से पहले सभी को पहले उनसे निपटना होगा। अशफ़ाक़ के तीखे तेवरों को देखते हुए भीड़ को दोबारा लौटने को मजबूर होना पड़ा था। गौरतलब है कि आजादी के इन दीवानों ने काकोरी कांड को साथ मिलकर अंजाम दिया था। इस कांड ने अंग्रेजों की नींव हिलाकर रख दी थी। इसके बाद देशभर में क्रांति की एक अलख जग गई थी। राम प्रसाद बिस्मिल और अशफ़ाक़ुल्लाह खां को 19 दिसंबर 1927 को काकोरी कांड सहित अन्य मामलों में दोषी मानते हुए ब्रिटिश हुकुमत ने फांसी दे दी थी। दोनों वीर शहीद हंसते हंसते फांसी पर चढ़ गए और देश को आजादी का मतलब सिखा गए।

साभार : नई दुनिया

# शम्सुर्रहमान फ़ारुकी के नाम

## एक्टर इरफ़ान का ख़त

उर्दू के आला अदीब, पद्मश्री शम्सुर्रहमान फ़ारुकी का दिल्ली के फोर्टिस से इलाज करवा कर, इलाहाबाद लौटने के हफ्ते भर बाद ही इंतकाल हो गया। शम्सुर्रहमान को उर्दू साहित्य का टीएस इलियट कहा जाता था। वे केवल एक महान आलोचक ही नहीं उच्च कोटि के लेखक, अनुवादक और अच्छे शायर भी थे। अपनी पीढ़ी के आखिरी अदीब, शम्सुर्रहमान फ़ारुकी ने दास्तानगोई की शैली को पुनर्जीवित भी किया। उनका नॉवेल 'कई चांद थे, सरे आसमां' उर्दू नहीं, हिंदी के भी सबसे ज्यादा पढ़े जाने वाले उपन्यासों में से एक है। मशहूर दिवंगत अभिनेता इरफ़ान ने, उनके इस उपन्यास पर एक फिल्म बनाने की ख्वाहिश जाहिर करते हुए उनको एक पत्र लिखा था, जिसे हम हिंदी में साज़ा करने की कोशिश कर रहे हैं;

**प्रिय शम्स-उर-रहमान साहब**

आदाब,

सबसे पहले मुझे, मेरे लेखन कौशल के लिए मुआफ़ करें क्योंकि मैं लिखे गए अल्फ़ाज़ में अपने ख़्यालों को जाहिर करने में बेहद सीमित हूँ। लेकिन मैं पूरी कोशिश करूंगा। ये मेरी खुशनसीबी थी कि मैं आपसे बात कर सका, जैसी कि मैं काफी वक़्त से कोशिश कर रहा था कि आपसे राबता क़ायम कर सकूँ और आखिरकार ये हो सका।

पिछले कई सालों से मेरा सिनेमा में रहते हुए, कहानियों से एक करीबी रिश्ता रहा है। मेरे लिए ये कहानियां, दर्शकों से अपने आप को साज़ा करने का सबसे बड़ा मंच रही हैं... कहानियां जो मेरा ही हिस्सा बन गई हैं... मेरे साथ रहती हैं, मुझसे महीनों और सालों तक बात करती रहती हैं... कहानियां, जो ज़िंदगी के नए मायने बताती रहती हैं, कहानियां जिनसे मैं बेहतर होता हूँ और जो मेरी कहानी कहती हैं। मैं ये सब ज़ेहन में रख कर ही कहानियों का चुनाव करता हूँ, जिसमें कई बार मैं क़ामयाब होता हूँ और कई बार नाक़ामयाब भी। और संयोगवश मेरी कुछ फिल्में, जिसमें मैं बेहद खुश रहा हूँ-उनमें से एक शेक्सपियर के मैकबेथ का 'मक़बूल' में रूपांतरण थी, जिसे विशाल भारद्वाज ने बनाया। एक और फिल्म थी 'द नेमसेक' जो झुंपा लाहिरी के पुलितज़र विजेता उपन्यास पर आधारित और मीरा नायर द्वारा निर्देशित थी और हालिया, ऑस्कर जीतने वाली 'द लाइफ़ ऑफ़ पाई' येन मार्टेल के लिखे उपन्यास पर आधारित थी, जो एक व्यक्ति की, कई महीनों तक, समुद्र में एक बाघ के साथ यात्रा का आनंददायी अफ़साना थी, वो सह-अस्तित्व और आस्था की तलाश पर एक दार्शनिक चिंतन थी... जैसा कि एक कहावत है कि 'आप क़िताबों को नहीं ढूँढते, क़िताबें आपको ढूँढ लेती हैं...' मुझे लगता है कि आपकी क़िताब ने, मुझे ढूँढ लिया है...

मैंने हाल ही में आपकी क़िताब पढ़ी और मंत्रमुग्ध रह गया... आपका जादुई कथानक, एक चमकते और डूबते दौर की अंदरूनी और बाहरी दुनिया की ऐसी अंतर्कथा ने मुझे निःशब्द छोड़ दिया... वो गरिमा, वो शान, वो करुणा, सुंदरता, रोमांस, जुनून, आकर्षण, रहस्य, भ्रम, समय की क़ूर सच्चाई और जाविदां और अपनापे की खूबसूरती...

आपकी क़िताब के लिए मेरे शब्द कभी भी, उससे इंसफ़ नहीं कर पाएंगे। ऐसा लगता है कि क़िताब बनने से पहले, ये आपको अंदर दशक-दशक धीमी आंच पर पकती रही है... जबसे मैंने ये क़िताब पढ़ी है, इसने मेरे अंदर से निकलने से इनकार कर दिया है। मैं किसी जादू में बंध गया हूँ। मेरी ख्वाहिश है कि मैं, इसे सिनेमा और टीवी के दर्शकों से भी, इसकी खूबसूरती और रूह को बरकरार रखते हुए साज़ा करूँ। मैं विनम्रता से, इसके लिए आपकी इजाज़त चाहूंगा। मेरे लिए, जो भी हुक़म हो फ़रमाइएगा, मुंतज़िर रहूंगा।

एक अदना सा एक्टर, इरफ़ान

2020 में इरफ़ान और शम्सुर्रहमान फ़ारुकी, दोनों ही दुनिया को अलविदा कह गए। ये छोटा सा ख़त, न तो इरफ़ान के सिनेमा में किए काम की कोई बानगी है और न ही शम्सुर्रहमान फ़ारुकी के साहित्य में किए गए काम की। ये बस एक ज़रिया है, ये समझने का कि दरअसल लेखक, अपने समय और अपने समय की हर कला से न केवल कितना आगे होता है, बल्कि अपने समय की हर कला पर अपने निशान छोड़ता है। इरफ़ान का ये ख़त, हमको समझाता है कि कलाकार होने और अच्छा कलाकार होने के बीच का फ़र्क, ये विनम्रता और लेखक के प्रति सम्मान का होना है। लेखक होना, अपने को दुनिया भर की तकलीफ़ों के समंदर में डुबो देना है... शम्सुर्रहमान फ़ारुकी होकर, आप सिर्फ़ हाल के नहीं, माज़ी के दुखों में भी खुद को डुबोते हैं...

शम्सुर्रहमान फ़ारुकी के शब्दों में, वो 'शब्दों के घर' बनाते थे... हमको घर देने का शुक़्रिया फ़ारुकी साहब... अलविदा...

साभार : <https://www.mediavigil.com/>

# राजनीतिक चेतना और मानवीय आभा से दीप्त कवि का जाना

## ■ प्रियदर्शन

‘पहाड़ों की यातनाएं हमारे पीछे हैं, मैदानों की हमारे आगे।’ जर्मन कवि बर्टोल्ट ब्रेख्त की यह काव्य पंक्ति मंगलेश डबराल को बहुत प्रिय थी और अक्सर वे इसे दोहराया करते थे। ऐसा लगता था जैसे पहाड़ों पर न रह पाने और मैदानों को न सह पाने का जो अनकहा दुख है, उसमें ये पंक्तियां उन्हें कोई दिलासा देती हों।

लेकिन अगर दुख था तो वह उनके भीतर था। वे उसे जीवन के कार्य-व्यापार में बाहर नहीं आने देते थे। कातर पड़ना जैसे उन्हें गवारा नहीं था। एक रात साढ़े तीन बजे गाज़ियाबाद के वसुंधरा के एक निजी अस्पताल में भर्ती होने से पहले जिस जनसत्ता सोसाइटी में वे मेरे पड़ोसी थे, वहां हर रोज सुबह मैं उन्हें एक झोला लेकर निकलते देखा करता था।

इन दिनों हमारी लगभग रोज बात हो रही थी। मुझे मालूम था कि उनकी तबीयत ठीक नहीं है। उनको भी बुखार था और उनकी पत्नी और बेटी को भी। उन्होंने बेटी की कोविड जांच कराई और जब पता चला कि उसे कोविड नहीं है तो मान लिया कि उनको भी नहीं होगा।

यह वह ज़िद थी, खुद को कमजोर और बीमार न मानने की, जो अंतिम समय में उनके लिए आत्महंता लापरवाही में बदल गई। वसुंधरा के अस्पताल में वे क्ररीब दस दिन लड़ते रहे, उसके बाद उन्हें उनके आग्रह पर एम्स ले जाया गया लेकिन पहले से छलनी उनके फेफड़ों पर कोरोना का हमला सांघातिक साबित हुआ। फिर उनकी किडनी ने उनका साथ देना बंद किया। डायलिसिस की कोशिश हुई, लेकिन इस बार हृदय इसे झेल न पाया। दो दिल के दौरों के साथ वह कहानी खत्म हो गई जो एक पहाड़ से चली, कई पहाड़ों और समंदरों के पार गई और अंततः सबको रुला गई।

लेकिन जिस आत्मघाती ज़िद ने उनकी जान ली, शायद यही वह चीज थी जिसे लेकर वे उत्तराखंड के गढ़वाल के काफलपानी से कभी उतरे थे और जिसे झोले की तरह लिए जैसे उम्र भर चलते रहे।

### विरोध की मार्मिक आवाज

सत्तर और अस्सी के दशकों में नक्सल आंदोलन से प्रेरित-प्रभावित हिंदी कविता को उन्होंने ‘पहाड़ पर लालटेन’ जैसा अद्भुत संग्रह दिया और बताया कि बहुत तीखे क्रोध और विरोध को कैसे

मार्मिक और मद्धिम आवाज़ में भी पूरी तीव्रता से व्यक्त किया जा सकता है, बल्कि उसमें सुलगते-कौंधते रूपकों और बिंबों की मार्फत कैसे अर्थों की नई तहें पैदा की जा सकती हैं। उन अर्थों की, जो एक बहुत संवेदनशील जीवन की जुगनू जैसी खुशियों और असमाप्त होते दुखों के बीच बनते थे।

अब वे हिंदी के कवि थे। दिल्ली से लेकर इलाहाबाद तक मैदानों में अपना ठिकाना तलाश रहे थे। अलग-अलग अखबारों में काम करते हुए और अंततः ‘जनसत्ता’ और दिल्ली को अपना डेरा बनाते हुए।

लेकिन ‘घर का रास्ता’ उन्हें जैसे हमेशा पुकारता रहा। यह उनका दूसरा संग्रह था जिसे उनके पिता ने देखा तो कहा कि तूने घर का रास्ता तो लिखा, लेकिन घर का रास्ता भूल गया। इस उलाहने में जो उदासी शामिल थी, वह बेशक दूसरी तरफ ज़्यादा गाढ़ी थी।

लेकिन मंगलेश डबराल के निजी और सार्वजनिक जीवन की यातनाएं और परीक्षाएं और भी थीं। नब्बे के दशक की सोवियत विहीन एकध्रुवीय होती दुनिया में जब पूंजीवाद और सांप्रदायिकता के नाखून लगातार लंबे और तीखे हो रहे थे तो मंगलेश जी फिर अपनी कविता में इनके खिलाफ खड़गहस्त थे। वे स्मृतियों की मानवीयता के सहारे जैसे एक युद्ध लड़ने की तैयारी में थे।

‘आवाज़ भी एक जगह है’ की कविताएं पिछले संग्रहों से काफी अलग थीं और बहुत सारी पुरानी आवाज़ों, पुराने दृश्यों को समेटने वाली थीं—उन्हें पुराने संगतकार याद आ रहे थे, लोकगायक याद आ रहे थे और वह बहुत कुछ याद आ रहा था जिसने उन्हें मनुष्य बनाया था। ‘नए युग में शत्रु’ तक आते-आते उनका पुराना तीखा स्वर फिर लौटता दिखता है और वे बाज़ार के आकृतिविहीन-मायावी आक्रमण की जैसे एक-एक रंग को उजागर करने पर तुले हैं।

### जीवनकाल का आखिरी संग्रह

इस बीच अंतरराष्ट्रीय पटल और भारतीय परिदृश्य पर सांप्रदायिकता का ऐसा दौर शुरू हो चुका था जिसकी एक परिणति 2002 की गुजरात हिंसा के रूप में सामने आई थी। उस विह्वल-व्यथित कर देने वाली परिघटना पर हिंदी के बहुत सारे कवियों ने कविताएं लिखीं, लेकिन जो मंगलेश डबराल ने लिखा—‘गुजरात के

एक मृतक का बयान’—वह जैसे हमारे भीतर एक सिहरन पैदा करने वाला था. कविता की बीच की पंक्तियां हैं—

‘मेरे जीवित होने का कोई बड़ा मकसद नहीं था / और मुझे मारा गया इस तरह जैसे मुझे मारना कोई बड़ा मकसद हो / और जब मुझसे पूछा गया तुम कौन हो ? / क्या छिपाए हुए हो अपने भीतर एक दुश्मन का नाम / कोई मज़हब कोई तावीज़ / मैं कुछ कह नहीं पाया मेरे भीतर कुछ नहीं था / सिर्फ एक रंगरेज एक मिस्त्री एक कारीगर एक कलाकार एक मजूर था / जब मैं अपने भीतर मरम्मत कर रहा था किसी टूटी हुई चीज़ की / जब मेरे भीतर दौड़ रहे थे एल्युमीनियम के तारों की / साइकिल के नन्हे पहिये / तभी मुझ पर गिरी एक आग बरसे पत्थर / और जब मैंने आखिरी इबादत में अपने हाथ फैलाये / तब तक मुझे पता नहीं था बन्दगी का कोई जवाब नहीं आता।’

फरवरी, 2020 में मंगलेश डबराल का वह संग्रह आया जो उनके जीवनकाल का आखिरी संग्रह साबित हुआ। ‘स्मृति एक दूसरा समय है।’ अपने पिछले संग्रह ‘नये युग में शत्रु’ में मंगलेश डबराल ने बाज़ार के जिस मायावी संसार को अचूक ढंग से पहचाना था, उसके प्रतिनिधियों की शिनाख्त इस संग्रह में भी खूब है— ‘वे गले में सोने की मोटी जंजीर पहनते हैं / कमर में चौड़ी बेल्ट लगाते हैं / और मोबाइलों पर बात करते हैं / वे एक आधे अंधेरे और आधे उजले रेस्तरां में घुसते हैं / और खाने और पीने का ऑर्डर देते हैं / वे आपस में जाम टकराते हैं / और मोबाइलों पर बात करते हैं।’

हिंदी कविता की परंपरा में मंगलेश डबराल का मोल इन संक्षिप्त उल्लेखों से नहीं समझा जा सकता। वे असंदिग्ध तौर पर राजनीतिक कवि थे, बाज़ार, पूंजीवाद और सांप्रदायिकता के विरुद्ध थे, लेकिन उनमें एक अजब सी मानवीय ऊष्मा थी—अंग्रेजी में जिसे ग्रैंड ह्यूमैनिटी बोलते हैं—कुछ वैसी चीज जो अचानक इन कविताओं को एक सभ्यतामूलक विमर्श का माध्यम बना डालती थी।

हम पाते थे कि मंगलेश जी की कविताएं जितने राजनीतिक आशय दे रही हैं, उतने ही सांस्कृतिक, पारिवारिक, प्रेमिल और मानवीय अभिप्राय भी—ये विराट विमर्शों वाली नहीं, सूक्ष्म व्यंजनाओं वाली कविताएं हैं जो हमें चुपचाप बदल रही हैं।

मंगलेश गद्यकार भी उतने ही कमाल के थे। ‘एक बार आयोवा’, ‘लेखक की रोटी’ और ऐसी ही ढेर सारी कृतियों का विलक्षण गद्य बताता है कि हम भाषा को इस तरह कैसे बरतें कि वह हमेशा एकाधिक अर्थ प्रकाशित करती हुई सरल रेखा में बनी रहे।

उनके यात्रा संस्मरणों की हाल में आई किताब ‘एक सड़क एक जगह’ को पढ़ना शहरों को, देशों को, दुनिया को एक नई आंख से देखना है—ऐसी पारदर्शी नजर से जिसमें शहरों की कायाएं ही

नहीं, आत्माएं भी साफ-साफ दिखने लगती हैं। पेरिस के बारे में वे कुछ इस तरह लिखते हैं—

‘शायद पेरिस के भीतर जितना पेरिस है उससे कहीं ज्यादा बाहर है। पूरी दुनिया में उसकी जगहें, वस्तुएं, उसके लोग और विचार फैले हुए हैं और पेरिस उन सभी चीजों के भीतर फैला हुआ है। वह प्रतीकों की भाषा में बात करता है। घटनाएं, चीजें, जगहें, संस्कृति, रहन-सहन सब कुछ। यहां तक कि लोग और विचार भी पेरिस के ब्रांड हैं।’

### संपादक और अनुवादक के रूप में

वैसे उनका कोई भी परिचय तब तक अधूरा रह जाएगा जब तक उनके संपादक और अनुवादक रूप की चर्चा न हो। वे बहुत अच्छे अनुवादक थे। दुनिया के कई बड़े कवियों की कविताओं का उन्होंने बिल्कुल मर्म पकड़ने वाला अनुवाद किया। कुछ साल पहले अरुंधती राय के दूसरे उपन्यास ‘मिनिस्ट्री ऑफ अटमोस्ट हैप्पीनेस’ का उनका अनुवाद भी खूब सराहा गया।

पत्रकार और संपादक भी वे विलक्षण थे। बहुत तेज़ी से कॉपी पढ़ते थे और उससे भी तेज़ी से संपादित करते थे। उनके शीर्षकों, उनकी सामग्री—सबमें एक सुचिंतित चयन दिखता। ‘जनसत्ता’ के बेहतरीन दिनों में जो ‘रविवारी जनसत्ता’ उन्होंने निकाला, उसका कोई जवाब नहीं था। बाद में ‘सहारा समय’ का संपादन करते हुए भी उन्होंने कई संग्रहणीय अंक निकाले।

मेरा सौभाग्य था कि वे मेरे पड़ोसी भी रहे और एक दौर के वरिष्ठ सहकर्मी भी। एक मनुष्य के रूप में, एक लेखक के रूप में और एक पत्रकार के रूप में उनको देखने के बहुत सारे अवसर मिले।

वे संवादरत रहते थे और अपने बाद की पीढ़ी के लेखकों-कवियों से उनका संवाद संभवतः दूसरे लेखकों-कवियों के मुकाबले कहीं ज्यादा था। बेशक, उनमें कमजोरियां थीं जो हम सबमें होंगी, लेकिन अपने सर्वोत्तम क्षणों में उन जैसी मानवीय आभा वाला मनुष्य मिलना मुश्किल था।

इस साल कोविड ने बहुत दुख दिए, कई तरह से व्यक्ति और समाज के रूप में हमें तार-तार कर गया, लेकिन जाते-जाते इस मानवीय आभा से वंचित कर उसने ऐसा वार किया है जिससे बना जख्म कभी नहीं जाएगा।

वे जीवन के खाली और खोखले होते जाने को भी पहचानते थे। अपने अंतिम कविता संग्रह की एक कविता ‘समय नहीं है’ में वे लिखते हैं— ‘मैं देखता हूं तुम्हारे भीतर पानी सूख रहा है / तुम्हारे भीतर हवा खत्म हो रही है / और तुम्हारे समय पर कोई और कब्जा कर रहा है।’

साभार : [bbc.co.uk/hindi](http://bbc.co.uk/hindi)

---

## मट्टो की साइकिल :

### ज़िंदगी के लॉकडाउन में फंसे मजदूर की कहानी

■ वंदना

---

एक साइकिल। कहीं डंडे वाली तो कहीं बिना डंडे वाली। एक घंटी, कैरियर और सुंदर सी टोकरी लगी साइकिल... हो सकता है आपका बचपन इसकी सवारी के साथ बीता हो। और बहुत मुमकिन है कि अब आपने खुद को मोटरगाड़ी या बाइक तक अपग्रेड कर लिया हो और साइकिल से आपका शायद ही वास्ता पड़ता हो। पर लॉकडाउन के दौरान बिहार की 15 बरस की एक लड़की ज्योति साधारण-सी साइकिल चलाकर 1200 किलोमीटर, गुरुग्राम से बिहार के अपने पुरतैनी गाँव पहुँची थी।

निर्देशक एम. गनी की नई फिल्म 'मट्टो की साइकिल' ऐसे ही एक मजदूर मट्टो (प्रकाश झा) और उसकी साइकिल की कहानी है। फिल्म का एक सीन है जहाँ टूटी साइकिल की वजह से मट्टो रोज मजदूरी पर देरी से आता है तो ठेकेदार पूछता है—'क्यों भई मट्टो जे कोई टाइम है आने का?' तो मट्टो बड़ी लाचारी से जवाब देता है—'मेरो साइकिल में रोज कुछ न कुछ टेंटो लग जाए ठेकेदार।'

मट्टो आज का वो मजदूर है जो कोरोना वाले लॉकडाउन में नहीं बल्कि ज़िंदगी नाम के परमानेंट लॉकडाउन में फँसा है जहाँ उसकी 'नीची' जाति, उसकी गरीबी, सब जैसे वायरस बन उसे जहनी और जिस्मानी तौर पर बीमार कर रहे हैं।

दक्षिण कोरिया में हुए बुसान फिल्म फेस्टिवल से चर्चा में आई फिल्म मट्टो की साइकिल में जाने-माने निर्देशक प्रकाश झा लीड रोल में हैं।

#### समाज पर प्रहार है फिल्म

कोरोना लॉकडाउन में इस साल मजदूरों की जो हालत हुई, फिल्म उससे पहले बननी शुरू हो चुकी थी। तो इस विषय पर एम. गनी ने फिल्म बनाने की क्यों सोची, इसका जवाब उनकी निजी ज़िंदगी में रचा बसा है। बातचीत में उन्होंने बताया, 'मट्टो जो इस फिल्म का मुख्य किरदार है, एक तरह से मेरे पिता का अवस उनमें है। उत्तर प्रदेश में मेरा अपना परिवार भी ऐसा ही था, मजदूरी की तलाश में परिवार घूमता था। इस कहानी का एक-एक किरदार मेरा देखा और जिया हुआ है। ये कहानी हमेशा मेरे इर्द-गिर्द थी, हमने तो

कई असल किरदारों के नाम तक नहीं बदले हैं। ये बरसों पहले से तय था कि मैं इस पर कुछ करूँगा।'

फिल्म देखकर आप महसूस करेंगे कि कहानी भले ही मट्टो नाम के एक मजदूर की है पर इस बहाने ये फिल्म समाज पर तीखा प्रहार भी है जो मेहनत-मजूरी करने वाले इस तबके को या तो हिकारत की नजर से देखता है या उससे भी बदतर। ये सारे लोग हमारे बीच होते हुए भी ओझल ही रहते हैं।

मट्टो का रोल करने वाले प्रकाश झा इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं, 'हम विकास की राह पर चल तो पड़े हैं लेकिन हमारी सामाजिक मानसिकता नहीं बदल पा रही। वो (मजदूर) हमारे आलीशान घर बनाते हैं, और खुद बिना आशियाने के रहते हैं और पैदल सड़कों पर चलने को मजबूर हैं। एक पूरा तबका है जिसका कोई मोल नहीं है समाज में।'

'मुझे इस फिल्म की कहानी ने बहुत प्रभावित किया। एक मजदूर और उसकी साइकिल की कहानी—वो साइकिल जिसकी उम्र उसकी बेटी की उम्र से बस एक साल ज्यादा है।'

वहीं निर्देशक एम. गनी मानते हैं, 'दरअसल हमने अपने आसपास के मट्टो को देखना कम कर दिया है। मैं खुद भी सोचने लगा था कि अब लोगों ने साइकिल चलाना कम कर दिया है। मैं कई दिन तक शहरों के बाहरी इलाकों में गया और मजदूरों को देखता था, मजदूर तो आज भी साइकिल पर ही चलते हैं। इस साल तो हमने देखा ही कि मजदूर कैसे साइकिल, या पैदल चलकर लॉकडाउन में घर पहुँचे।'

मट्टो और उसकी साइकिल की कहानी के जरिए ये फिल्म जात-पात, स्टेट्स और महिलाओं से जुड़े मुद्दों को भी छूकर जाती है। फिल्म में एक वकील है जो मट्टो को अक्सर उसके दोस्त कल्लू पंचर वाले की दुकान पर मिल जाता है। ये किरदार निर्देशक के भाई के दोस्त की निजी ज़िंदगी पर आधारित है।

फिल्म में वकील होते हुए भी उसे अक्सर केस नहीं मिलता। पूछने पर वो कहता है, 'हमारी नेमप्लेट ही खोटी है। बस सुअरन के पीछे घूमते रहो, गटर में घुसते रहो तो ही दुनिया खुश रहती है

हमसे।' या फिर वो कार वाला अनाम शख्स जो खुद गलत तरीके से गाड़ी लगाता है और जब मट्टो की साइकिल से उसकी टक्कर हो जाती है तो उसे बड़े रुआब से आधी अंग्रेजी में बोलता है कि ये टूट जाती तो इसका खर्च कौन 'बियर' करता ?

निर्देशक एम. गनी कहते हैं, 'फिल्म में उस कार वाले के गुस्से की एक वजह है कि वो प्रिविलेज्ड है, हमें लगता है कि हम पैसे और पावर वाले हैं तो हम ऐसे ही बर्ताव कर सकते हैं।'

फिल्म की बात करें तो ग्रामीण परिवेश वाले एक देहाती मजदूर के रोल में प्रकाश झा काफी सहज लगते हैं—चाहे उनकी बोली हो, हावभाव या वेशभूषा। निर्देशक गनी इसका श्रेय प्रकाश झा को ही देते हैं, 'प्रकाश जी ने खुद को रोल के लिए तैयार किया। वो मजदूरों के बीच जाकर रहे और लेबर चौक पर जाकर बैठा करते थे। सर पर ईटा लेकर चलने वाले सारे शॉट उनके खुद के हैं। उन दिनों वो बिना एसी के रहते थे।'

वैसे फिल्म में तमाम नाउम्मीदियों के बीच उम्मीद की एक किरण भी दिखती है कैसे गरीब और शोषित एक-दूसरे के साथ खड़े हुए नजर आते हैं। खुद हाशिए पर होते हुए भी मट्टो का साथ अगर कोई देता है तो उसका मुसलमान दोस्त कल्लू पंचरवाला और दलित वकील।

एम. गनी मानते हैं कि जरूरतें लोगों को करीब लाती हैं और अगर हमारी जरूरतें, हमारी दिक्कतें एक जैसी हों तो एक-दूसरे को समझना आसान होता है। दरअसल साम्यावादी होना इंसान के फेवर में चला जाता है—मुस्कुराते हुए वो अपनी राय रखते हैं।

### जिन्दगी जीने का नुस्खा देता दिलदार कल्लू

मथुरा के एक गाँव में बसी इस फिल्म की एक मजबूत कड़ी है इसकी स्थानीय बोली। भाषा की ऐसी विविधता मेनस्ट्रीम फिल्मों में कम देखने को मिलती है।

जब जिंदगी से निराश मट्टो अपने दोस्त कल्लू से कहता है कि देखते-देखते 20 साल निकल गए, कल्लू नहीं कर पाए यार... तो जिंदादिल कल्लू उसे दिलासा देता है—'का मातम मना रहे हो, हसबे-बोलबे में ही जिंदगी का सार है, और मेरो जैसा सेलिब्रिटी तेरो यार है।' ये मीठी बोली और मीठा अंदाज सुनकर जरूर आपके चेहरे पर भी मुस्कान आ जाएगी। फिल्म लॉकडाउन से पहले बनी है लेकिन इस साल मीलों पैदल चलते मजदूरों की दुर्दशा के साए में ये कहीं ज्यादा प्रासंगिक मालूम होती है और एम. गनी ने इसे काफी संवेदनशीलता से बनाया भी है।

फिल्म मट्टो की साइकिल देखने के बाद पता नहीं क्यों मैंने सबसे पहले उस 15 साल की बच्ची ज्योति और उसके पिता को फोन लगाया जो दिल्ली से बिहार साइकिल चलाकर आई थी। बिहार के अपने गाँव से ज्योति के पिता मोहन पासवान ने बताया कि अभी उनके पास कुछ काम नहीं है और वो इंतजार कर रहे हैं कि चुनाव के बाद उनकी सुध लेने वाला कोई होगा।

बिल्कुल वैसी ही उम्मीद जैसी फिल्म में मट्टो को अपने इलाके से चुनाव लड़ने वाले नेता से थी। लगा जैसे फिल्मी कहानी का मट्टो और हकीकत का मोहन आमने-सामने आकर खड़े हो गए हों। या प्रकाश झा की नज़रों से देखें तो वो कहते हैं कि उनकी 1985 की फिल्म का बंधुआ मजदूर संजीवन राम और आज का मट्टो जैसे अब भी एक ही मुहाने पर खड़े हैं। और सरहदों को पार कर अगर आप दुनिया का सिनेमा देखेंगे तो मट्टो आपको वहाँ भी नजर आएगा।

### नाउम्मीदी में उम्मीद की किरण

1948 में इटली की फिल्म आई थी 'बाइसिकल थीफ्स' जिसे दुनिया की सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में गिना जाता है। फिल्म में मट्टो की ही तरह एंटोनियो नाम के गरीब मजदूर को नौकरी पर जाने के लिए हर हाल में एक साइकिल की जरूरत है क्योंकि उसकी साइकिल चोरी हो गई है वरना वो भूखा मरेगा। लेकिन गरीबी की वजह से उसे मट्टो की तरह हिकारत ही मिलती है जब तक कि वो मजबूरीवश एक साइकिल चोर नहीं बन जाता। तब भी उसे गुनहगार न समझने वाला उसका छोटा-सा बेटा ही है, जैसे मट्टो के पास कल्लूपंचर वाला था।

तो दुनिया के ऐसे असली मट्टो से फिल्म के निर्देशक क्या कहना चाहेंगे ?

अपनी बात निर्देशक गनी कुछ यूँ खत्म करते हैं, 'मैं मजदूरों को कुछ कहना नहीं चाहता बल्कि उन लोगों की बात सुनना चाहता हूँ जिन्हें इस पर बोलना चाहिए था। अगर एक बच्ची साइकिल चलाकर बिहार पहुँची है तो ये कोई फ़ख की बात नहीं है। पर एक उम्मीद की किरण मुझे दिखती है।'

'जब मजदूर दिक्कत में थे, कितने लोगों ने इनके दर्द को समझा। संवेदनशीलता मरी नहीं है अब तक। ये बात मुझे उम्मीद देती है।'

साभार : बीबीसी हिंदी

## इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017